श्री हरिभद्रसूरिकृत

षड्दर्शन समुच्चयः

सटीकः

मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी

श्री विजयमहोदयसूरिग्रंथमाला-५

पूज्याचार्यश्रीहरिभद्रसूरिविरचितः
पूज्याचार्यश्रीराजशेखरसूरिरचितश्च

षड्दर्शनसमुच्चयः

(सटीकः)

टीका
पूज्याचार्यश्रीसोमतिलकसूरिः

अवचूरिः
अज्ञात

❀ सम्पादकः ❀
तपागच्छाधिपत्याचार्यदेवेशश्रीमद्
विजयरामचन्द्रसूरीश्वराणां विनेयो
मुनिवैराग्यरतिविजयः

✦ लाभार्थी ✦
शेठ भेरुलालजी कनैयालालजी कोठारी रिलि. ट्रस्ट
चंदनबाला - (वालकेश्वर)
मुंबई.

श्री विजयमहोदयसूरिग्रंथमाला-५

ग्रन्थनाम	:	षड्दर्शनसमुच्चयः
कर्ता	:	पू. आ. श्री हरिभद्रसूरि, पू. आ. श्री राजशेखरसूरि
लघुवृत्ति	:	पू. आ. श्री सोमतिलकसूरि
अवचूरि	:	अज्ञात
पूर्वसम्पादक	:	पू. आ. श्री वि. जम्बूसूरि, डॉ. महेन्द्रकुमार जैन
पुनः सम्पादक	:	मुनिवैराग्यरतिविजय
प्रकाशक	:	प्रवचन प्रकाशन, पूना
आवृत्ति	:	प्रथमा
मूल्य	:	रु. ६०.००
पत्र	:	३६+१०८
©	:	PRAVACHAN PRAKASHAN, 2002

प्राप्तिस्थान

पूना	:	भूपेश भायाणी ४८८, रविवार पेठ, पूना-४११००२ फोन : ०२०-४४५३०४४
अहमदाबाद	:	सरस्वती पुस्तक भंडार हाथीखाना, रतनपोल, अहमदाबाद-३८०००१ फोन : ५३५६६९२
अहमदाबाद	:	राजेन्द्रभाई घेलाभाई शाह ८, भावि एवेन्यू, मर्चन्ट पार्क सोसायटी पालडी, अहमदाबाद-३८०००७ फोन : ०७९-६६०२३९३
मुद्रण	:	राज प्रिन्टर्स, पूना
अक्षरांकन	:	विरति ग्राफिक्स, अहमदाबाद

प्रकाशकीय

श्री जिनशासन के परम तेजस्वी अधिनायक महामहिम सूरिसम्राट् आचार्यदेव **श्रीमद् विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी म. सा.** के पट्टालंकार सौभाग्यनिधि पूज्यपाद आचार्यदेवेश **श्रीमद् विजयमहोदयसूरीश्वरजी म. सा.** के पुण्यनाम से ट्रस्ट की और से '**श्रीविजयमहोदयसूरिश्वरजी म.**' ग्रन्थावली प्रारम्भ की गई है। पूजनीय गच्छाधिपति सूरिभगवन्त इसी साल काल के धर्म को प्राप्त हुए। ट्रस्ट का यह सौभाग्य रहा की ग्रन्थमाला के प्रथम तीन ग्रन्थ का विमोचन पूजनीय सूरिभगवन्त की पावन निश्रा में सम्पन्न हुआ।

इस ग्रन्थमाला के प्रधान प्रेरक प्रभावक प्रवचकार पूज्य आचार्यदेव **श्रीमद् विजयहेमभूषणसूरीश्वरजी** म. सा. है।

श्री भेरुलालजी कनैयालालजी कोठारी रिलि. ट्रस्ट, मुंबई (चंदनबाला) ने ज्ञानराशि का व्यय करके उत्तम लाभ लिया है। श्री संघ कृत श्रुतभक्ति की बहुत अनुमोदना। ज्ञाननिधि से प्रकाशित इस पुस्तक का उपयोग करने से पहेले गृहस्थ वर्ग ज्ञानद्रव्य में उचित मूल्य अवश्य प्रदान करें यही विनंति।

प्रवचन प्रकाशन

विषयानुक्रमः

सम्पादकीय ५

दर्शनो का संक्षिप्त परिचय १०

१. षड्दर्शनसमुच्चयः १.१००

२. बौद्ध-दर्शनम् (श्लो. १-१२) १

३. न्याय-दर्शनम् (श्लो. १३-३२) १२

४. साङ्ख्य-दर्शनम् (श्लो. ३३-४३) ३४

५. जैन-दर्शनम् (श्लो. ४४-५८) ४१

६. वैशेषिक-दर्शनम् (श्लो. ५९-६७) ६३

७. मीमांसा-दर्शनम् (श्लो. ६८-७९) ६८

८. चार्वाक-दर्शनम् (श्लो. ८०-८७) ७०

षड्दर्शनसमुच्चयः मल. राजशेखरसूरिकृतः ८५

परिशिष्ट

वेदान्त-दर्शनम् १०३

अकारादिक्रमः १०५

॥ ॐ ऐँ सरस्वत्यै नमः ॥

सम्पादकीय

'षड्दर्शनसमुच्चय' महागीतार्थ पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजा की दार्शनिक प्रतिभा का सर्जन है ।

आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी म. पूर्वावस्था में ब्राह्मण परम्परा से संलग्न थे । चितौड के राजपुरोहित हरिभद्र चौदह विद्या के पारगामी थे, प्रकाण्ड दार्शनिक पण्डित थे साथ में दर्पोन्नत थे । विद्या के गर्व में उन्होंने मन ही मन प्रतिज्ञा की थी कि 'जिस व्यक्ति के शब्द मेरी समझ में न आये मैं उसका शिष्य बनूँगा' एकबार साध्वीजी के मुख से नीकले हुए शब्द उनकी समझ में न आये और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार याकिनी नामक साध्वीजी के सन्मुख शिष्य बनने की भावना से उपस्थित हुए । साध्वीजी की प्रेरणा से उन्होंने श्री जिनभट्टसूरिजी के चरणो में जीवन समर्पित किया और जैन श्रमणत्व का स्वीकार किया ।

तत्त्व का यथावस्थित बोध होने के कारण जिनमार्ग के उपर उनकी श्रद्धा दृढ, स्थिर एवम् निर्मल हुई । श्रद्धा, शास्त्रबोध और करुणा के संयोजन से उन्होंने १४४४ प्रकरण की रचना की ।

श्रुतपरम्परा के अनुसार पू. आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी का समय वि. सं. ५८५ पूर्वका है । आधुनिक विद्वानो के अनुसार वि. सं. ७५७ से ८२७ तक का है ।

षड्दर्शनसमुच्चयः

षड्दर्शनसमुच्चय प्रकरण दर्शनशास्त्र में प्रवेश करने के लिए

प्रारम्भिक ग्रन्थ है और प्रौढ भाषा शैली, प्रामाणिक पदार्थनिरूपण एवम् पक्षपात रहित दृष्टि के कारण विद्वज्जन में अति आदरणीय है । निःशंक यह ग्रन्थकर्ता के विशद शास्त्रबोध, सूक्ष्म विचारप्रज्ञा और श्रेष्ठ संयोजन कुशलता का परिपाक है ।

दार्शनिक ग्रन्थ परम्परा में छह दर्शनो का स्वतन्त्र संग्रह एवम् निरूपण करनेवाली एकमेव कृति षड्दर्शनसमुच्चय है । दर्शन की वार्ताओं का इस तरह संग्रह करने का प्रयास पू. आ. श्री हरिभद्रसूरिजी के पहेले किसी ने नहीं किया । अनुगामी सभी संग्रह ग्रन्थो पर षड्दर्शनसमुच्चय ने गहरा प्रभाव छोड़ा है ।

मूलग्रन्थ का विषय :

प्रमाण-प्रमेय-प्रमिति-एवम् प्रमाता इन चार तत्त्वो का विचार 'दर्शन' है । दर्शनशास्त्र में यह चार शब्दो का विशद विवरण पाया जाता है । इसमें प्रमाण और प्रमेय मुख्य है (प्रमाता का प्रमाण में और प्रमाता का प्रमेय में समावेश हो जाता है) ।

आर्य देश में सभी आत्मवादी दर्शन आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति के उद्देश्य से प्रवृत्त हुए है । इसी दुःखनिवृत्ति का अपर नाम मुक्ति है । मुक्ति को प्राप्त करने लिए प्रत्येक दर्शन ने उपास्य तत्त्व अंगीकार किया है । (अपवाद चार्वाक दर्शन) । यह उपास्य तत्त्व हो प्रत्येक दर्शन की धरोहर है ।

षड्दर्शनसमुच्चय में प्रत्येक दर्शन के देवता-प्रमेय और प्रमाण तत्त्व का संक्षिप्त निरूपण है ।

श्री सोमतिलकसूरिजीकृत लघुवृत्तिः

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पे सर्वप्रथम वृत्ति रचने का श्रेयः पू. आचार्यश्री सोमतिलकसूरिजी को मिलता है । 'विद्यातिलक' उनका दूसरा नाम था । गुर्वावली के अनुसार उनका जन्म वि. सं. १३५५, दीक्षा वि. सं. १३६९, आचार्यपद वि. सं. १३५३ और स्वर्गगमन वि. सं. १४२४ में हुआ । पू. आ. श्री गुणरत्नसूरिजी (वि. सं. १४०५) ने षड्दर्शनसमुच्चय पर बृहद्वृत्ति की

रचना इसी वृत्ति का आधार लेके की है । पू. आ. श्री सोमतिलकसूरिजी की वृत्ति पर पू. आ. श्री. हेमचन्द्रसूरिकृत प्रमाण मीमांसा एवम् पू. आ. श्री मल्लिषेणसूरिकृत स्याद्वादमञ्जरी का प्रभाव नज़र आता है । पहले यही वृत्ति मुद्रक के अनवधान के कारण मणिभद्र कृत वृत्ति के नाम से प्रसिद्ध थी लेकिन फिलहाल यह भ्रमणा गलत सिद्ध हो चूकी है । पू. आ. श्री सोमतिलकसूरिजी ने प्रस्तुत वृत्ति में मूलग्रन्थकर्ता श्री हरिभद्रसूरिजी के हार्द को समुचित रूप से व्यक्त किया है । जैसा कि वृत्तिकार ने अनेकत्र स्पष्ट किया है - यह प्रयास बाल जीवो के बोध हेतु है - वृत्तिकार इसमें भी सफल साबित हुए है । अनावश्यक क्लिष्टता एवम् विस्तार वृत्ति में नहीं देखने मिलते । वृत्ति में उद्धृत किये हुए अवतरणो से भी आचार्यश्री के ज्ञान वैभव का भलीभाँति परिचय होता है ।

सांख्य मत के निरूपण में वृत्तिकार सम्मत गाथा क्रम प्रचलित गाथाक्रम से भिन्न है । हमने प्रस्तुत सम्पादन मे प्रचलित पाठक्रम को स्थान दिया है । हालाँकि ऐसा करने में अवतरण आदि का दुरन्वय होता है फिर भी पाठ संगति के लिए ऐसा करना पसंद किया है ।

अज्ञातकर्तृका अवचूरिः :

षड्दर्शनसमुच्चय को इस अवचूरि में अति संक्षेप में श्लोकों का सामान्यार्थ बताया गया है । इस को देखने से ही पता चलता है कि अवचूरिकार पर पू. आ. श्री सोमतिलकसूरिजी का घनिष्ठ प्रभाव है ।

आ. श्री राजशेखरसूरिजीकृत षड्दर्शनसमुच्चयः

षड्दर्शन की विचारधारा का बोध पू. आ. श्री हरिभद्रसूरिजी कृत षड्दर्शन समुच्चय से होता है वही षड्दर्शनीओ की आचारधारा का बोध हर्षपुरीयगच्छ के मलधारिश्री राजशेखरसूरिजीकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय' से होता है । इनका सत्ता समय वि. सं. १४५० मिलता है । २८० श्लोक प्रमाण यह लघु प्रकरण ग्रन्थ प्रासादिक भाषाशैली से सम्पन्न है । अपने ग्रन्थ में कर्ता ने श्री हरिभद्रसूरिजी कृत षड्दर्शनसमुच्चय से अतिरिक्त तत्त्वो का संग्रह किया है । श्री हरिभद्रसूरिजी कृत षड्दर्शन में प्रत्येक दर्शन के तीन तत्त्वों का निरूपण

है । देवता, प्रमेय और प्रमाण । श्रीराजशेखरसूरिजी ने नौ तत्त्वों का निरूपण किया है । लिंग, (वेष से अतिरिक्त धर्मबोधक चिह्न) वेष, आचार, देवता, गुरु, प्रमाण, प्रमेय, मुक्ति, और तर्क (शास्त्र) । यहाँ गुरु द्वारा दिये जानावाला आशीर्वाद, आहार ग्रहण विधि खास करके सम्प्रदाय भेद आदि भी गौण रूप से वर्णित है । बृहद्वृत्तिकार आचार्यश्री गुणरत्नसूरिजी ने अपनी बृहद्वृत्ति में दर्शनीओं के वेषादि का निरूपण इसी ग्रन्थ के आधार पर किया है । आचार्यश्री स्वयं बहुत बड़े दार्शनिक थे । उन्होंने स्याद्वाद-कलिका, स्याद्वादरत्ना-करावतारिकापंजिका न्यायकंदली-पंजिका जैसी दार्शनिक कृतिओ की रचना भी की है ।

जैन मत में श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद - आचारभिन्नता का वर्णन, मीमांसक मत के चार प्रकार के परिव्राजक का वर्णन इस प्रकरण की विशेषता है । हालाँकि अद्वैत वेदान्त का तत्त्वनिरूपण इस कृति में भी समविष्ट नहीं है । पू. आ. श्री हरिभद्रसूरि ने चार्वाक को आंशिक रूपेण 'दर्शन' माना है । आ. श्रीराजशेखरसूरिजी स्पष्टरूपेण कहते हैं—**'नास्तिकं तु न दर्शनम्'** । फिर भी उन्होंने नास्तिकदर्शन का तत्त्वनिरूपण अपने ग्रन्थ में किया है ।

प्रस्तुत सम्पादन :

विद्वान् आचार्यदेव श्रीमद्विजय जम्बू सू. म. सा.[१] एवम् साक्षर डॉ. महेन्द्रकुमार जैन[२] द्वारा सम्पादित पुस्तक का सहारा लेकर यह सम्पादन सम्पन्न हुआ है । पू. आ. श्री राजशेखरसूरिजी कृत षड्दर्शनसमुच्चय पं. श्रावक हरगोविंददास और बेचरदास[३] द्वारा सम्पादित है ।

पू. आ. श्री विनय जम्बूसूरीश्वरजी म. सा. का सम्पादन अति समृद्ध और शुद्ध है । मलधारि श्रीराजशेखरसूरिजी कृत षड्दर्शनसमुच्चय का विशेष संशोधन अपेक्षित है । हस्तप्रतादि सामग्री के अभाव में यहाँ वह सम्भव नही हुआ है ।

---

१. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।

२. मुक्ताबाई ज्ञानमंदिर (१४) ।

३. श्रीयशोविजय जैन ग्रन्थमाला (१७) ।

कृपा वर्षा :

श्री जिनशासन के परम तेजस्वी अधिनायक तपागच्छाधिराज स्मृतिशेष परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् **विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी** म. सा., स्वनामधन्य गच्छाधिपति पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् **विजयमहोदयसूरीश्वरजी** म. सा., पितृगुरुवर बहुश्रुत मुनिप्रवर **श्री संवेगरति विजयजी** म. सा. की अनहद कृपावृष्टि, श्रुतभक्ति के सर्व कार्यों में बरसती रहती है । श्रुतसाधना उनकी कृपा का फल है ।

श्रुत और संयम की साधना में सतत सहयोगी अभिन्नमना गुरुभ्राता मुनिवर **श्री प्रशमरति विजयजी** को भूलना असम्भव ही है ।

सम्पादन का अंतिम प्रूफ प. पू. आ. दे. श्रीमद् **विजय-रामचन्द्रसूरीश्वरजी** म. सा. की आज्ञावर्तिनी एवं स्व. श्री रोहिताश्रीजी म. सा. की शिष्यरत्ना विदुषी साध्वीजी श्री चंदनबालाश्रीजीने शुद्ध किया है । आपकी श्रुतभक्ति की भूरिशः अनुमोदना ।

दर्शनशास्त्र के दुर्गम क्षेत्र में जिज्ञासुओं का प्रवेश और प्रवास दोनों सरल रूप से हो यह उद्देश सम्पादन समय मनमें रखा है । जिज्ञासु वर्ग इसका लाभ उठायें और तत्त्व की परीक्षा के द्वारा सत्य को उपलब्ध हो यही कामना ।

वि. सं. २०५८ श्रा. शु. द्वितीया,
शनिवासर
व्याख्यान गृह
३०, जैन मरचन्ट सो.
पालडी

—वैराग्यरतिविजय

दर्शनों का संक्षिप्त परिचय

वैदिक-दर्शन

१. मीमांसा-दर्शन :

महर्षि जैमिनी मीमांसा-दर्शन के सूत्रप्रणेता थे । मीमांसा को 'पूर्वमीमांसा' भी कहते हैं । वैदिक कर्मकाण्ड का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन करना इसका मुख्य उद्देश्य है । इस कर्मकाण्ड का आधार है वेद । मीमांसा के अनुसार वेद मनुष्य-रचित नहीं, अपितु अपौरुषेय तथा नित्य हैं । इसलिए वेद पुरुषकृत दोषों से रहित हैं । वेदों का प्रकाश ऋषियों द्वारा हुआ है । वेद की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये मीमांसा-दर्शन में प्रमाणों पर सविस्तर विचार हुआ है ।

इस दर्शन में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि सभी ज्ञान स्वतः प्रमाण हैं । पर्याप्त सामग्री रहने से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है । इन्द्रियों के निर्दोष होने से, वस्तुओं के सन्निकट रहने से, तथा अन्य सहकारी कारणों के उपस्थित रहने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान हो पाता है । पर्याप्त सामग्री रहने से अनुमान भी हो जाता है । जब हम भूगोल की कोई पुस्तक पढ़ते हैं तो हमें उस समय शब्द-प्रमाण के द्वारा परोक्ष देशों का भी ज्ञान हो जाता है । इन प्रमाणों द्वारा अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द के द्वारा जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसकी सत्यता हम निर्विवाद मान लेते हैं, इसके लिये हम किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं करते ।

यदि ज्ञान में कोई सन्देह रहे तो उसे ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि

ज्ञान में विश्वास का होना परम आवश्यक है। विश्वासरहित का ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है। वेदों के अध्ययन से हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है और उसमें हमारा दृढ़ विश्वास भी रहता है। अतः वैदिक ज्ञान अन्य ज्ञानों की तरह स्वयं प्रमाणित हैं। उसमें यदि कहीं कोई सन्देह की उत्पत्ति होती है तो उसका निराकरण मीमांसा की युक्तियों द्वारा होता है। बाधाओं को दूर हो जाने पर वैदिक ज्ञान स्वयं प्रकट हो जाता है। अतः वेद की प्रामाणिकता असन्दिग्ध है।

वेद का विधान ही 'धर्म' है। वेद जिसका निषेध करता है वह 'अधर्म' है। विहित कर्मों का पालन तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग 'धर्म' कहलाता है। धर्म का आचरण कर्त्तव्य समझ कर निष्काम भाव से करना चाहिये। वेदविहित कर्मो को किसी फल या पुरस्कार की प्रत्याशा से नहीं करना चाहिये अपितु उन्हें वेद का आदेश समझकर ही करना चाहिये। नित्य कर्मों के निष्काम आचरण से पूर्वार्जित कर्मों का नाश होता है और देहपात होने पर मुक्ति मिलती है। इस तरह का निष्काम आचरण ज्ञान तथा संयम की सहायता से हो सकता है।

प्राचीन मीमांसा के अनुसार स्वर्ग के विशुद्ध सुख की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ या मोक्ष है। किन्तु आगे चलकर मोक्ष से केवल जन्म-नाश तथा दुःख का अन्त समझा जाने लगा।

आत्मा नित्य है, इसका नाश नहीं हो सकता। वेद के अनुसार स्वर्ग-प्राप्ति के लिये धर्म का आचरण करना चाहिये। यदि आत्मा की मृत्यु हो जाय तो स्वर्ग की कामना या स्वर्ग-प्राप्ति निरर्थक हो जाती है। जैन दार्शनिकों की तरह मीमांसक भी आत्मा की नित्यता के लिये स्वतन्त्र युक्तियाँ देते हैं। मीमांसक चार्वाक के इस मत को (कि आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है) नहीं मानते। किन्तु वे यह भी नहीं स्वीकार करते कि चैतन्य आत्मा का स्वरूपलक्षण है। शरीर के साथ आत्मा के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। विशेषतः जब किसी विषय का ज्ञानेन्द्रियों के साथ संयोग होता है तब चैतन्य की उत्पत्ति होती है। मुक्त आत्मा विदेह होता है तथा चेतनाविहीन होता है, किन्तु उसमें चैतन्य की शक्ति रहती है। आत्मा जब

देह से युक्त रहता है तब उसे कई प्रकार के ज्ञान प्राप्त हो सकते हैं ।

मीमांसा की एक शाखा के प्रवर्त्तक **प्रभाकर** थे । प्रभाकर-मीमांसा के अनुसार प्रमाण पाँच प्रकार के हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति ।

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द की व्याख्या न्याय तथा मीमांसा में प्राय: समान है । उपमान-सम्बन्धी केवल एक भिन्नता है । मीमांसा के अनुसार उपमान नीचे लिखी विधि से होता है । कोई व्यक्ति जिसने हनुमान् की मूर्ति देखी है, जङ्गल जाता है । वह जङ्गल में बन्दर देखता है और कहता है कि यह बन्दर हनुमान् के सदृश है । यह उक्ति प्रत्यक्ष के द्वारा प्रमाणित होती है । तत्पश्चात् यदि वह व्यक्ति कहे कि मैंने जो अतीत में हनुमान् देखा है, वह इस बन्दर के समान है । तो इसे हम प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कह सकते । यह ज्ञान 'उपमान' के द्वारा होता है, क्योंकि हनुमान् वहाँ उपस्थित नहीं है ।

जब हम किसी आपात विरोध का समाधान नहीं कर सकते तो हम 'अर्थापत्ति' की सहायता लेते हैं । यदि कोई मनुष्य दिन में भोजन नहीं करे और वह मोटा होता जाय तो हम 'अर्थापत्ति' से जान पाते हैं कि वह रात में अवश्य भोजन करता है । यदि कोई मनुष्य जीवित हो और घर पर न रहे तो अर्थापत्ति द्वारा ही यह जाना जा सकता है कि वह कहीं अन्यत्र है ।

मीमांसा की दूसरी एक शाखा **कुमारिल भट्ट** ने स्थापित की है । भाट्ट मीमांसा के अनुसार उपर्युक्त पाँच प्रमाणों के अतिरिक्त एक षष्ठ प्रमाण भी है । इस षष्ठ प्रमाण को 'अनुपलब्धि' कहते हैं । किसी घर में प्रवेश करने पर तथा चारों तरफ देख लेने पर यदि कोई व्यक्ति कहे कि इस घर में वस्त्र नहीं है तो यह नहीं कहा जा सकता कि वस्त्राभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा हुआ, क्योंकि किसी विषय का प्रत्यक्ष तब होता है जब उस विषय का इन्द्रिय के साथ संयोग हो । उपर्युक्त उदाहरण में वस्त्राभाव का ज्ञान हुआ है । अभाव के साथ इन्द्रिय का संयोग नहीं हो सकता । अत: अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि द्वारा ही होता है ।

मीमांसादर्शन भौतिक जगत् को मानता है। भौतिक जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष से प्रमाणित होती है। मीमांसा बाह्यसत्तावादी है। संसार के अतिरिक्त यह आत्माओं के अस्तित्व को भी मानता है। किन्तु यह किसी जगत् के स्रष्टा, परमात्मा या ईश्वर को नहीं मानता। जगत् अनादि और अनन्त है, न उसकी कभी सृष्टि हुई, न प्रलय होता है। सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्माओं के पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्त्वों से होता है। कर्म एक स्वतन्त्र शक्ति है, जिससे संसार परिचालित होता है।

मीमांसा के अनुसार जब कोई व्यक्ति यज्ञादि कर्म करता है तो एक शक्ति की उत्पत्ति होती है जिसे 'अपूर्व' कहते हैं। इसी अपूर्व के कारण किसी भी कर्म का फल भविष्य में उपयुक्त अवसर पर मिलता है। अतः इस लोक में किये गये कर्मों के फल का उपभोग परलोक में किया जा सकता है।

२. वेदान्त-दर्शन :

वेदान्त-दर्शन की उत्पत्ति उपनिषदों से हुई है। उपनिषदों में वैदिक विचारधारा विकास के शिखर पहुँच गयी है। अतः उपनिषदों को 'वेदान्त' कहना अर्थात् वेदों का अन्त कहना बहुत ही यथार्थ है। यह कहना उचित होगा कि वेदान्त-दर्शन का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। इसके मूल सिद्धान्त को हम सर्वप्रथम उपनिषदों में पाते हैं। फिर उनको **बादरायण** ने अपने ब्रह्मसूत्र में सङ्कलित किया है। इसके बाद भाष्यकारों ने उन सूत्रों के भाष्य लिखे हैं। भाष्यों में शङ्कर तथा रामानुज के भाष्य अधिक विख्यात हैं। अन्य दर्शनों की अपेक्षा वेदान्त-दर्शन से, विशेषतः शाङ्कर वेदान्त से, भारतीयों का जीवन बहुत अधिक प्रभावित हुआ है।

ऋग्वेद में पुरुषसूक्त में ऐसे पुरुष की कल्पना की गयी है, जो समूचे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है तथा ब्रह्माण्ड से भी परे हैं। इस सूक्त में संसार के जड़ तथा चेतन सभी पदार्थों को, मनुष्यों तथा देवताओं को उस परम पुरुष का अङ्ग माना गया है। इस ऐक्यभाव का विकास आगे चलकर उपनिषदों में हुआ है। उपनिषदों में उनका पुरुषरूप नहीं रहा। उपनिषदों में उसे सत्,

आत्मन् या ब्रह्मन् कहते हैं। यहाँ सत्, आत्मन् तथा ब्रह्मन् एकार्थक शब्द हैं। संसार इसी सत् से उत्पन्न हुआ है, इसी पर आश्रित है तथा प्रलय होने पर इसी में विलीन हो जाता है। संसार का नानात्व असत्य है। उसकी एकता ही एकमात्र सत्य है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**, **'नेह नानास्ति किञ्चन'** उपनिषदों के ये वाक्य यह सिद्ध करते हैं कि संसार में एक ही सत्ता है और इसका नानात्व असत्य है। आत्मा या ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। यह अनन्त ज्ञान तथा अनन्त आनन्द है।

(१) **शङ्कर** ने उपनिषदों की व्याख्या विस्तार से की है। उनके अनुसार उपनिषदों में विशुद्ध अद्वैत की शिक्षा दी गयी है। ब्रह्म एकमात्र सत्य है। इसका अर्थ केवल यह नहीं कि ईश्वर के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं है, अपितु ईश्वर के अन्तर्गत भी कोई दूसरी सत्ता नहीं है। **'नेह नानाऽस्ति किञ्चन'**, **'तत् त्वम् असि'**, **'अहं ब्रह्मास्मि'**, **'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'** इत्यादि उक्तियाँ उपनिषद् की उक्तियाँ हैं। यदि ब्रह्म के अन्तर्गत अनेक सत्ताओं का समावेश माना जाय तो इन उपनिषदों की उक्तियों की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती। यह सत्य है कि कुछ उपनिषदों में इस बात का उल्लेख है कि ब्रह्म या आत्मा के द्वारा संसार की सृष्टि हुई है। किन्तु अन्य उपनिषदों में, यहाँ तक कि वेदों में भी, संसार की सृष्टि की तुलना इन्द्रजाल से की गयी है। ईश्वर को मायावी माना है जो अपनी मायाशक्ति से संसार की रचना करता है।

शङ्कर का यह कथन है कि यदि पारमार्थिक सत्ता एक है तो संसार की सृष्टि वस्तुतः सृष्टि नहीं है। ईश्वर अपनी माया-शक्ति द्वारा संसार का इन्द्रजाल रचता है। साधारण बुद्धि वालों के लिये मायावाद को बोधगम्य बनाने के निमित्त शङ्कर दैनिक जीवन के साधारण भ्रमों की सहायता लेते हैं। कभी कभी रस्सी साँप के रूप में ज्ञात होती है। सीप को देखकर चाँदी का अनुभव हो जाता है। ऐसे अनुभव 'भ्रम' कहलाते हैं। सभी प्रकार की भ्रान्तियों में एक अधिष्ठान रहता है जो सत्य होता है। ऊपर के उदाहरण में सीप तथा रस्सी ऐसे अधिष्ठान हैं। अज्ञान के कारण ऐसे अधिष्ठानों पर अन्य वस्तुओं का अध्यास या आरोप होता है। अध्यस्त वस्तु सत्य नहीं

होती । ऊपर के उदाहरणों में साँप तथा रजत अध्यस्त हैं । अज्ञान के अधिष्ठान का केवल आवरण ही नहीं होता, अपितु विक्षेप भी होता है । विश्व की अनेकरूपता की व्याख्या इसी प्रकार की जा सकती है । ब्रह्म एक है, अतः अविद्या के कारण उसमें अनेक की प्रतीति होती है । अविद्या के कारण हम ब्रह्म का सच्चा स्वरूप नहीं जान पाते । हम उसे नाना रूपों में देखते हैं । बाजीगर एक मुद्रा को कई मुद्राओं में परिणत कर दिखलाता है । इस भ्रमात्मक प्रतीति का कारण जादूगर के लिये तो उसकी जादू दिखलाने की शक्ति है, किन्तु हमारे लिये उसका कारण हमारा अज्ञान है । अज्ञानवश हम एक मुद्रा को कई मुद्राओं के रूप में देखते हैं । इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म एक है फिर भी मायाशक्ति के कारण हमें उसके अनेक रूप दिखायी पड़ते हैं । साथ ही साथ हमारा अज्ञान भी ब्रह्म की अनेकरूपता का कारण है । हमें यदि अज्ञान न हो तो हम ब्रह्म की अनेकरूपता के भ्रम में नहीं पड़ सकते । अतः माया और अविद्या वस्तुतः एक हैं । दृष्टिभेद से दो ज्ञात होती हैं । यही कारण है कि माया को अज्ञान भी कहते हैं ।

कहा जाता है कि शङ्कर विशुद्ध अद्वैत का प्रतिपादन नहीं कर सके, क्योंकि वे ईश्वर तथा माया जैसे दो तत्त्वों को मानते हैं । किन्तु शङ्कर के अनुसार माया ईश्वर की ही एक शक्ति है । जो सम्बन्ध अग्नि तथा उसकी दाहक शक्ति में है, वही सम्बन्ध ईश्वर तथा माया में है ।

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि ईश्वर मायाशक्ति से विशिष्ट है, किन्तु ऐसा कहना भी बहुत समीचीन नहीं है । यदि संसार की अनेकरूपता को सत्य माना जाय तथा ईश्वर को संसार की दृष्टि से देखा जाय तो अवश्य ही ईश्वर की प्रतीति स्रष्टा या मायावी के रूप में होगी, किन्तु जैसे ही संसार के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही ईश्वर को स्रष्टा के रूप में देखना अर्थहीन हो जाता है । जो पुरुष जादूगर के खेल से भ्रम में नहीं पड़ता, उसके छल को समझता है, इसके लिये जादूगर, जादूगर नहीं है । उसके लिये उस जादूगर के पास धोखा देने की कला भी नहीं है । इसी प्रकार जो विश्व को पूर्णतया ब्रह्ममय देखता है उसके लिये ब्रह्म में माया या सृष्टिशक्ति नहीं रह जाती ।

शङ्कर उपर्युक्त विचारों को युक्तिपूर्ण बनाने के लिये दृष्टियों का दो प्रकार से विभेद करते हैं—१. व्यावहारिक दृष्टि तथा २. पारमार्थिक दृष्टि ।

१. व्यावहारिक दृष्टि साधारण मनुष्यों के लिये है जो संसार को सत्य मानते हैं । हमारा व्यावहारिक जीवन इसी दृष्टि पर निर्भर है । इसके अनुसार संसार सत्य है । ईश्वर इसका सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् स्रष्टा, रक्षक तथा संहारक है । इस दृष्टि से ईश्वर के अनेक गुण हैं । अर्थात् वह सगुण है । शङ्कर इस दृष्टि के अनुसार ब्रह्म को सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं । उसके अनुसार आत्मा एक शरीरबद्ध सत्ता है । इस में अहम्भाव की उत्पत्ति होती है ।

२. पारमार्थिक दृष्टि ज्ञानियों की है जो यह समझ जाते हैं कि संसार मायिक है और ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है । संसार की असत्यता ज्ञात हो जाने पर ब्रह्म को स्रष्टा नहीं माना जा सकता । ब्रह्म के लिये सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्त्व आदि गुणों का कोई अर्थ नहीं रह जाता । ब्रह्म में स्वगत भेद भी नहीं रहता । इस पारमार्थिक दृष्टि के अनुसार ब्रह्म निर्विकल्प तथा निर्गुण हो जाता है । इसे निर्गुण ब्रह्म कहते हैं । इसके अनुसार शरीर भी भ्रान्तिमूलक हो जाता है और आत्मा तथा ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता ।

यह पारमार्थिक दृष्टि अविद्या के दूर होने पर ही सम्भव है । अविद्या का नाश वेदान्त का ज्ञान होने पर ही होता है । अविद्या को दूर करने के लिये मनुष्य में इन्द्रिय तथा मन का संयम, भोग्य वस्तुओं से विराग, वस्तुओं की अनित्यता का ज्ञान, तथा मुमुक्षुत्व (मुक्ति के लिये प्रबल इच्छा का होना) आवश्यक है । तत्पश्चात् ऐसे व्यक्ति को किसी योग्य गुरु से वेदान्त का श्रवण करना चाहिये और उसके सिद्धान्तों का मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिये । तत्पश्चात्, शिष्य के योग्य हो जाने पर, गुरु उसे कहता है—'**तत् त्वम् असि**' (तुम ब्रह्म हो) । गुरु की इस उक्ति का वह मनन करता है और अन्त में उसे साक्षात् ज्ञान हो जाता है कि '**अहं ब्रह्मास्मि**' (मैं ब्रह्म हूँ) । यही पूर्ण ज्ञान है और इसी को 'मोक्ष' कहते हैं । ऐसा ज्ञानी तथा

मुक्त जीव शरीर तथा संसार में रहकर भी अनासक्त रहता है। सांसारिक वस्तुओं को वह असत्य समझता है। उनके प्रति उसे कोई आसक्ति नहीं होती। वह संसार में रहकर भी संसार से विरक्त रहता है। किसी प्रकार की आसक्ति या किसी प्रकार की भ्रान्ति उसकी बुद्धि को विचलित या प्रभावित नहीं कर सकती। मिथ्याज्ञान के कारण वह पहले अपने को ब्रह्म से पृथक् समझता था। मिथ्याज्ञान के दूर होने पर उसके दुःखों का भी अन्त हो जाता है। जिस तरह ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, उसी तरह मुक्त आत्मा भी वैसा ही हो जाता है।

(२) **रामानुज** उपनिषदों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—ईश्वर ही पारमार्थिक सत्ता है। अचित् या अचेतन प्रकृति और चित् या चेतन आत्मा ईश्वर के ही अंश हैं। वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है। इसमें अच्छे अच्छे सभी गुण वर्तमान हैं। ईश्वर में अचित् सर्वदा वर्तमान रहता है। ईश्वर ने अचित् से इस संसार की उसी प्रकार उत्पत्ति की है जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीर से अपने जाल की सृष्टि करती है। आत्मा भी सर्वदा ईश्वर में वर्तमान रहते हैं। वे अणु हैं। उनका स्वरूप स्वभावतः चिन्मय है। वे स्वयं प्रकाशमान हैं। कर्मानुसार प्रत्येक आत्मा को शरीर धारण करना पड़ता है। शरीरयुक्त होना ही बन्धन है। आत्मा का शरीर से पूर्णतः सम्बन्धविच्छेद 'मोक्ष' कहलाता है। अज्ञान से कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्म ही बन्धन का कारण है। बन्धन की अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप को नहीं पहचान सकता। वह शरीर को ही अपना स्वरूप समझता है। अतः उसके आचरण भी उसी प्रकार के होते हैं। वह इन्द्रियसुख के लिये लालायित रहता है। वह संसार में आसक्त हो जाता है और इसी आसक्ति के कारण उसे बार बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। वेदान्त से मनुष्य को ज्ञान होता है कि मनुष्य का आत्मा उसके शरीर से भिन्न है। यह ईश्वर का एक अंश है, अतः इसका अस्तित्व ईश्वर पर ही निर्भर है। अनासक्त भाव से वेदविहित धर्मों का आचरण करने से कर्मों की सञ्चित शक्ति नष्ट हो जाती है और अनन्त ज्ञान प्राप्त होता है। साथ ही साथ यह ज्ञान भी प्राप्त होता है कि ईश्वर ही एकमात्र सत्ता है जो प्रेम के योग्य है। मनुष्य

अहर्निश ईश्वर की भक्ति करने लगता है तथा अपने को ईश्वर में अर्पित कर देता है । ईश्वर भक्ति से प्रसन्न होते हैं और भक्त को बन्धन से मुक्त कर देते हैं । मुक्त आत्मा देहान्त के बाद कभी जन्म ग्रहण नहीं करता । यह ईश्वरसदृश हो जाता है । ईश्वर के समान उसका चैतन्य भी विशुद्ध तथा दोषरहित हो जाता है । किन्तु ये एक नहीं हो जाते, क्योंकि आत्मा अणु तथा ईश्वर विभु है । अणु विभु नहीं हो सकता ।

रामानुज के अनुसार ईश्वर ही एक मात्र सत्ता है । ईश्वर के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं, किन्तु ईश्वर के अन्तर्गत अनेक सत्ताएँ हैं । संसार की सृष्टि सत्य है । अतः रामानुजीय दर्शन को विशुद्ध अद्वैत नहीं कह सकते । उसे **विशिष्टाद्वैत** कहते हैं । यह अद्वैतवाद इसलिये है कि यह ईश्वर को ही एकमात्र सर्वव्यापी स्वतन्त्र सत्ता मानता है । किन्तु ईश्वर अन्य सत्ताओं (= चिन्मय आत्माओं) से तथा अचित् पदार्थों से विशिष्ट या समन्वित है । इसलिय इसे 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं ।

३. साङ्ख्य-दर्शन :

साङ्ख्य दर्शन द्वैतवादी है । कहा जाता है कि महर्षि कपिल इसके प्रवर्तक थे । साङ्ख्य के अनुसार दो प्रकार के तत्त्व हैं—पुरुष और प्रकृति । अपने अपने अस्तित्व के लिये पुरुष और प्रकृति परस्पर निरपेक्ष हैं । पुरुष चेतन है । चैतन्य इसका आगन्तुक गुण नहीं, अपितु स्वरूप ही है । वस्तुतः पुरुष शरीर, मन तथा इन्द्रिय से भिन्न है । यह नित्य है । यह सांसारिक वस्तुओं तथा व्यापारों का अवलोकन पृथक् से ही करता है । यह स्वयं न तो कोई कार्य करता है, न इसमें कोई परिवर्तन ही होता है । जिस तरह कुर्सी, पलङ्ग आदि भौतिक वस्तुओं के उपभोग के लिये मनुष्य भोक्ता है उसी तरह प्रकृति के परिणामों के उपभोग के लिये भोक्ताओं की आवश्यकता है । ये भोक्ता पुरुष हैं, जो प्रकृति के परिणामों के उपभोग के लिये भोक्ताओं की आवश्यकता है । ये भोक्ता पुरुष हैं, जो प्रकृति से भिन्न हैं । प्रत्येक जीव के शरीर से सम्पृक्त एक एक पुरुष हैं । जिस समय कुछ मनुष्य सुखी पाये जाते हैं उस समय कुछ मनुष्य दुःखी भी रहते हैं ।

कुछ का देहपात हो जाता है, फिर भी कुछ जीवित रहते हैं । अतः पुरुष एक नहीं, अनेक हैं ।

प्रकृति इस संसार का आदि कारण है । यह एक नित्य और जड़ वस्तु है । यह सर्वदा परिवर्तनशील है । इसका लक्ष्य पुरुष के उद्देश्य-साधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । सत्त्व, रजस् तथा तमस्—प्रकृति के तीन गुण या उपादान हैं । सृष्टि के पहले ये तीन गुण साम्यावस्था में रहते हैं । इन्हें साधारण अर्थ में गुण नहीं समझना चाहिये । ये विशेष अर्थ में 'गुण' कहलाते हैं । जिस प्रकार कोई तिगुनी रस्सी तीन डोरियों की बनी होती है, उसी प्रकार प्रकृति तीन तरह के मौलिक तत्त्वों से बनी हुई है । संसार के विषय सुख दुःख या मोह के जनक हैं । वस्तुओं के प्रति सुख दुःख या विषाद होने के कारण हम वस्तुओं के तीन गुणों का अनुमान करते हैं । मीठे भोजन में एक ही व्यक्ति को कभी रुचि होती है, कभी अरुचि या कभी उदासीन भाव (रुचि तथा अरुचि दोनों का अभाव) । एक ही व्यञ्जन में किसी व्यक्ति को अच्छा स्वाद मिलता है, किसी को विपरीत स्वाद मिलता है तथा किसी को कोई स्वाद नहीं मिलता । कारण तथा कार्य में वस्तुतः ऐक्य होता है । कार्य कारण का विकसित रूप है । तिल आदि विशेष प्रकार के बीजों का विकसित रूप तैल है । संसार के सभी विषय परिणाम हैं, जिनके कारण सुख दुःख या विषाद का अनुभव होता है ।

हम उपर कह आये हैं कि प्रकृति, जिसका नाम प्रधान है, सांसारिक वस्तुओं का मूल कारण है । अतः सत्कार्यवादसिद्धान्त के अनुसार उसमें सुख, दुःख तथा विषाद के कारण अवश्य होंगे । सुख-दुःख तथा विषाद का कारण क्रमशः सत्त्व, रजस् तथा तमस् हैं । इस तरह प्रकृति के अन्तर्गत सत्त्व, रजस् तमस् का अस्तित्व प्रतिपादित होता है । सत्त्व प्रकाशक है, रजस् गतिशील है और कर्म कराता है, तमस् अचल तथा रणक या आवरणकारी है।

पुरुष तथा प्रकृति के संयोग (= वासना के बन्धन) से सृष्टि का प्रारम्भ होता है । प्रकृति के तीन गुणों की साम्यावस्था पुरुष का संयोग होने से नष्ट होती है ।

जगत् की सृष्टि इस क्रम से होती है—सत्त्व का आधिक्य होने से प्रकृति से महत् की उत्पत्ति होती है, महत् इस विश्व का महान् अङ्कुर है । पुरुष का चैतन्य-प्रकाश महत् के सत्त्व गुण पर पड़ता है, अतः महत् भी चेतन ज्ञात होता है । इस घटना के कारण ऐसा अनुभव होता है कि प्रकृति मानों सुप्तावस्था से जाग्रत् अवस्था में आयी हो । इसी के साथ-साथ चिन्तन का भी प्रादुर्भाव होता है । अतः महत् को 'बुद्धि' भी कहते हैं । यही जगत् की सृष्टिकारिणी बुद्धि है । बुद्धि का रूपान्तर अहङ्कार में होता है । 'अहङ्कार' अहम्भाव में सत्त्व का बाहुल्य होता है तो उससे पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन की सृष्टि होती है । मन उभयेन्द्रिय है, क्योंकि इसके द्वारा ज्ञान तथा कर्म दोनों सम्भव होते हैं । अहङ्कार में जब तमस् की प्रचुरता रहती है तब उससे तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध-पाँच 'तन्मात्रा' हैं । पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है । शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रस से जल, रूप से अग्नि तथा गन्ध से पृथिवी की उत्पत्ति होती है ।

इस प्रकार साङ्ख्य में सब मिलाकर २५ तत्त्व हैं । इसमें पुरुष को छोड़कर सभी तत्त्व प्रकृति के अन्तर्गत हैं, क्योंकि सभी भौतिक तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति ही है । प्रकृति का कोई कारण नहीं । महत्, अहङ्कार तथा पाँच तन्मात्रा अपने अपने कारणों के परिणाम या कार्य भी है और अपने कार्यों के कारण भी हैं । ग्यारह इन्द्रियों तथा पाँच महाभूत अपने अपने कारणों के केवल कार्य ही हैं । वे स्वयं किसी ऐसे परिणाम के कारण नहीं है जिनका स्वरूप इनसे भिन्न हो । पुरुष न तो किसी कारण है, न किसी का परिणाम ही है । अर्थात् पुरुष न तो प्रकृति है, न विकृति ।

पुरुष निरपेक्ष तथा नित्य है । किन्तु अविद्या के कारण यह अपने को शरीर इन्द्रिय तथा मन से पृथक् नहीं समझता । पुरुष और प्रकृति में अविवेक (अर्थात् विभेद न करने) के कारण हमें दुःखों से पीड़ित होना पड़ता है । शरीर के व्रणित (घायल) या अस्वस्थ होने से हम अपने को व्रणित या अस्वस्थ समझते हैं । हमारे मनोगत सुख तथा दुःख आत्मा को भी प्रभावित करते हैं, क्योंकि हम मन तथा आत्मा के भेद को भलीभाँति समझ नहीं पाते ।

ज्यों ही हमें विवेक होता है अर्थात् ज्यों हीं हम पुरुष का शरीर, इन्द्रिय, मन, अहङ्कार तथा बुद्धि से भेद समझने लगते हैं त्यों ही हमारे सुखों तथा दुःखों का अन्त हो जाता है । तब पुरुष का संसार के साथ कोई अनुराग नहीं रहता और यह संसार के घटनाक्रम का साक्षी या द्रष्टा मात्र रह जाता है । इस अवस्था को 'मुक्ति' या 'कैवल्य' कहते हैं । शरीर रहते हुए भी मुक्त पुरुष इससे ममत्व हटा लेते हैं । इसे 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं । देहान्त के बाद जो मुक्त पुरुष का शरीर भी नष्ट हो जाता है उसे 'विदेह मुक्ति' कहते हैं ।

केवल विवेकज्ञान होने से ही हमें आत्मज्ञान नहीं होता और न हम अपने दुःखों से ही पूर्णतया मुक्त हो पाते हैं । इसके लिये सतत आध्यात्मिक अभ्यास, साधना की आवश्यकता होती है । इस अभ्यास के लिये तत्त्व-ज्ञान के प्रति पूरी श्रद्धा तथा उसके अनवरत चिन्तन की आवश्यकता है । विवेकज्ञान होने पर हम पुरुष को विशुद्ध चैतन्य एवं तन-मन, देश-काल तथा कार्य-कारण से पूर्णयता पृथक् समझने लगते हैं । पुरुष अनादि और अनन्त हैं । यह निरपेक्ष अमर तथा नित्य है । आत्मज्ञान के लिये जिस साधना की आवश्यकता है उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन योगदर्शन में किया जायेगा ।

साङ्ख्य-दर्शन निरीश्वरवादी है । इसके अनुसार ईश्वर का अस्तित्व किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता । संसार की दृष्टि के लिये ईश्वर का अस्तित्व आवश्यक है, क्योंकि समस्त संसार के निर्माण के लिये प्रकृति ही पर्याप्त है । शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील ईश्वर जगत् की सृष्टि का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि कारण तथा परिणाम वस्तुतः अभिन्न होते हैं । कारण ही परिणाम में परिणत हो जाता है । ईश्वर संसार में परिणत नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर परिवर्तनशील नहीं माना जाता ।

साङ्ख्य के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि साङ्ख्य ईश्वर के अस्तित्व को एक विशिष्ट पुरुष के रूप में मानता है । उनका कथन है कि ईश्वर प्रकृति का द्रष्टा मात्र है, स्रष्टा नहीं ।

४. योग-दर्शन :

महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन के प्रवर्तक हैं। योग तथा साङ्ख्य में बहुत साम्य है। योग साङ्ख्याभिमत प्रमाणों और तत्त्वों को मानता है। वह साङ्ख्य के २५ तत्त्वों के साथ साथ ईश्वर को भी मानता है। योगदर्शन का प्रमुख विषय योगाभ्यास है। साङ्ख्य के अनुसार मोक्षप्राप्ति का प्रमुख साधन विवेकज्ञान है उसकी प्रति प्रधानतः योगाभ्यास से ही हो सकती है। चित्तवृत्ति के निरोध को 'योग' कहते हैं। चित्त की पाँच प्रकार की भूमियाँ हैं। पहली भूमि 'क्षिप्त' कहलाती हैं, क्योंकि उसमे चित्त सांसारिक वस्तुओं में क्षिप्त अर्थात् चञ्चल रहता है। दूसरी भूमि 'मूढ' कहलाती है, क्योंकि उसमें चित्त की अवस्था निद्रा के सदृश अभिभूत रहती है। तीसरी भूमि 'विक्षिप्त' कहलाती है। यह क्षिप्त से अपेक्षाकृत शान्त अवस्था है, किन्तु सर्वथा शान्त नहीं है। इन चित्तभूमियों में योगाभ्यास सम्भव नहीं है। चौथी तथा पाँचवी भूमियाँ 'एकाग्र' तथा 'निरुद्ध' कहलाती हैं। एकाग्र अवस्था में चित्त इसी ध्येय में निविष्ट या केन्द्रीभूत रहता है। निरुद्धावस्था में चिन्तन का भी अन्त हो जाता है। 'एकाग्र' तथा 'निरुद्ध' योगाभ्यास में सहायक है।

योग (समाधि) दो प्रकार का होता है—सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात उस योग या समाधि को कहते हैं, जिसमें चित्त ध्येय विषय में पूर्णतया तन्मय हो जाता है, जिससे चित्त को उस विषय का पूर्ण तथा स्पष्ट ज्ञान होता है। 'असम्प्रज्ञात' उस योग को कहते हैं, जिसमें मन की सभी क्रियाओं का निरोध हो जाता है। फलस्वरूप, ध्येय विषय के साथ साथ सभी विषयों के ज्ञान का लोप हो जाता है। केवल स्वप्रकाश आत्मा ही अवशिष्ट रह जाता है।

योगाभ्यास के आठ अङ्ग हैं, जो 'योगाङ्ग' कहलाते हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अभ्यास करना ही '**यम**' है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान—इन आचारों का अभ्यास '**नियम**' कहलाता है। सुखमय शारीरिक स्थिति को '**आसन**' कहते हैं। नियन्त्रित

रूप से श्वास-ग्रहण, धारण तथा त्याग को '**प्राणायाम**' कहते हैं । इन्द्रियों को विषयों से हटाने का नाम 'इन्द्रियसंयम' अर्थात् 'प्रत्याहार' कहलाता है । चित्त को शरीर के अन्दर या बाहर की किसी वस्तु पर केन्द्रीभूत करने को '**धारणा**' कहते हैं । किसी विषय पर सुदृढ तथा अविराम चिन्तन '**ध्यान**' कहलाता है । '**समाधि**' चित्त की वह अवस्था है, जिसमें ध्यानशील चित्त ध्येय (विषय) में तल्लीन हो जाता है ।

योगदर्शन को 'सेश्वर साङ्ख्य' कहते हैं और कपिलकृत साङ्ख्य को 'निरीश्वर साङ्ख्य' । योग के अनुसार चित्त की एकाग्रता तथा आत्मज्ञान के लिये ध्यान का सर्वोत्तम विषय ईश्वर ही है । ईश्वर पूर्ण, नित्य, सर्वव्यापी सर्वज्ञ तथा सर्वदोषरहित है । योग के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व के लिये ये प्रमाण दिये जाते हैं—जहाँ तारतम्य है, वहाँ सर्वोच्च का होना नितान्त आवश्यक है । ज्ञान में न्यूनाधिक्य है । अतः पूर्ण ज्ञान तथा सर्वज्ञता का होना असन्दिग्ध है । जो पूर्ण ज्ञानी या सर्वत्र है वही ईश्वर है । प्रकृति और पुरुष के संयोग से संसार की सृष्टि का प्रारम्भ होता है । संयोग का अन्त होने पर प्रलय होता है । पारस्परिक संयोग का वियोग पुरुष और प्रकृति के लिये स्वाभाविक नहीं है । अतः एक पुरुषविशेष का अस्तित्व परमावश्यक है, जो पुरुषों के पाप तथा पुण्य के अनुसार पुरुष तथा प्रकृति में संयोग या वियोग स्थापित करता है ।

५. न्याय-दर्शन :

न्याय-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं । न्याय वस्तुवादी दर्शन है । इसका प्रतिपादन विशेषतः युक्तियों द्वारा हुआ है । इसके अनुसार चार प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ।

१. वस्तुओं के साक्षात् या अपरोक्ष ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं । इसकी उत्पत्ति वस्तु तथा ज्ञानेन्द्रिय के संयोग से होती है । प्रत्यक्ष ज्ञान बाह्य या आन्तर हो सकता है । जिस विषय का प्रत्यक्ष होता है उसका संयोग यदि आँख, कान जैसी बाह्य इन्द्रियों से हो तो उसे 'बाह्य प्रत्यक्ष' कहते हैं । किन्तु यदि केवल मन से संयोग हो तो उसे आन्तर या 'मानस प्रत्यक्ष' कहते हैं ।

२. 'अनुमान' केवल इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता । यह किसी ऐसे लिङ्ग या साधन के ज्ञानपर निर्भर करता है, जिससे अनुमित वस्तु या साध्य का एक नियत सम्बन्ध रहता है । साधन या साध्य के नियत या अव्यभिचारी सम्बन्ध को 'व्याप्ति' कहते हैं । अनुमान में कम से कम तीन वाक्य होते हैं तथा अधिक से अधिक तीन पद होते हैं । इन पदों को पक्ष, साध्य तथा साधन (लिङ्ग) कहते हैं । 'पक्ष' उसे कहते हैं जिसमें लिङ्ग का अस्तित्व तो ज्ञात है और साध्य का अस्तित्व प्रमाणित करता है । 'साध्य' उसे कहते है जिसका अस्तित्व पक्ष में सिद्ध करना है । 'साधन' उसे कहते हैं जिसका साध्य के साथ नियत साहचर्य हो और जो पक्ष में वर्तमान रहे । जैसे—'यह पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि यह धूमवान् है । जो धूमवान् है वह वह्निमान् है ।' यहाँ पर्वत पक्ष है, वह्नि साध्य है तथा धूम साधन है ।

३. उपमान में संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान होता है । सादृश्य-ज्ञान द्वारा जो संज्ञा या संज्ञी अर्थात् नाम और नामी का सम्बन्ध स्थापित होता है उसे 'उपमान' कहते हैं । उदाहरणार्थ यदि गवय का केवल नाम ज्ञात रहे तथा यह विदित रहे कि गवय का आकार प्रकार गौ के सदृश होता है तो गवय को अरण्य में प्रथम वार देखकर भी समझा जा सकता है कि यह गवय है । ऐसा ज्ञान उपमान द्वारा होता है ।

४. आप्त अर्थात् विश्वास योग्य पुरुषों की युक्तियों से अज्ञात वस्तुओं के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'शब्द' कहते हैं । ऐतिहासिक कहते हैं कि महाराज अशोक भारत के सम्राट् थे । इस कथन को हम स्वीकार करते हैं, यद्यपि हमारा अशोक के साथ कोई साक्षात्कार नहीं हुआ । यहाँ 'शब्द' ही प्रमाण है ।

नैयायिक इन चार के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार अन्य सभी प्रमाण इन्हीं चार प्रमाणों के अन्तर्गत हैं ।

न्यायदर्शन के अनुसार अधोलिखित विषय 'प्रमेय' कहे जाते हैं । आत्मा, देह, इन्द्रियाँ तथा उनके द्वारा ज्ञातव्य विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष,

प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग ।

न्याय का भी लक्ष्य आत्मा को शरीर इन्द्रियों तथा सांसारिक विषयों के बन्धन से मुक्त करना है । आत्मा शरीर और मन से भिन्न है । शरीर का निर्माण भौतिक तत्त्वों के सम्मिश्रण से होता है । मन अणु एवं सूक्ष्म, नित्य तथा अविभाज्य है । मन आत्मा के लिये सुख दुःख आदि मानसिक गुणों के अनुभव के निमित्त एक करण है । अतः मन को **अन्तरिन्द्रिय** कहते हैं । जब आत्मा का इन्द्रियों के द्वारा किसी वस्तु से सम्बन्ध होता है तो उसमें चैतन्य का संचार होता है । चैतन्य आत्मा का कोई नित्य गुण नहीं, अपितु आगन्तुक गुण है । जब मन और इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का किसी विषय से सम्बन्ध होता है तभी उस विषय का चैतन्य या ज्ञान आत्मा को होता है । मुक्त होने पर आत्मा इन सम्पर्कों से रहित हो जाता है । ज्ञान भी लुप्त हो जाता है । मन परमाणु के सदृश सूक्ष्मतम है, किन्तु आत्मा विभु, अमर तथा नित्य है । आत्मा ही सांसारिक विषयों में आसक्त या उससे अनासक्त तथा राग द्वेष करता है ।

कर्मों के अच्छे बुरे फलों का उपभोग इसी को करना पड़ता है । मिथ्या ज्ञान, राग-द्वेष तथा मोह से प्रेरित होकर आत्मा अच्छा या बुरा कर्म करता है । उन्हीं के कारण आत्मा को पापमय या दुःखमय (दुःखग्रस्त) होना पड़ता है । उन्हीं के कारण वह जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है । तत्त्व-ज्ञान के द्वारा जब सभी दुःखों का अन्त हो जाता है तो मुक्ति होती है । इस अवस्था को 'अपवर्ग' कहते हैं । कुछ दार्शनिक कहते हैं कि यह अवस्था आनन्दमय होती है, किन्तु नैयायिक इसे नहीं मानते । मुक्त होने पर आत्मा तो चैतन्यहीन हो जाता है । तब सुख या दुःख किसी की भी अनुभूति नहीं रह सकती ।

नैयायिक ईश्वर के अस्तित्व को अनेक युक्तियों से सिद्ध करते हैं । ईश्वर संसार के सर्जन, पोषण तथा संहार का आदिप्रवर्तक है । ईश्वर ने विश्व का निर्माण शून्य से नहीं किया, अपितु परमाणु, दिक्, काल, आकाश, मन तथा आत्मा आदि उपादानों से किया है । जीव अपने अपने पुण्यमय या

पापमय कर्मों के अनुसार सुख या दुःख का उपभोग कर सके, इसके लिये संसार की सृष्टि हुई है ।

ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये इस दर्शन में अधोलिखित युक्ति दी जाती है—पर्वत, समुद्र, सूर्य, चन्द्र आदि संसार के जितने पदार्थ हैं सभी परमाणुओं में विभाजित हो सकते हैं । अतः उन पदार्थों का निर्माण किसी कर्त्ता के द्वारा अवश्य हुआ है । मनुष्य तो संसार का निर्माता हो नहीं सकता, क्योंकि उसकी बुद्धि तथा शक्ति सीमित है । यह परमाणु जैसी सूक्ष्म तथा अदृश्य वस्तुओं का सम्मिश्रण नहीं कर सकता । अतः इस संसार का निर्माता अवश्य कोई चेतन आत्मा है जो सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ तथा संसार की नैतिक व्यवस्था का संरक्षक है । वही ईश्वर है । ईश्वर ने संसार को अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये नहीं, बल्कि अन्य प्राणियों के कल्याण के लिये बनाया है । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संसार में केवल सुख ही सुख है एवं दुःख का सर्वथा अभाव है । मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता है अतः वह अच्छे या बुरे—दोनों प्रकार के कर्म कर सकता है तथा तदनुसार सुख या दुःख का भागी होता है । किन्तु परमात्मा की दया या उसके मार्गदर्शन से मनुष्य अपने आत्मा तथा विश्व का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त कर सकता है और तत्पश्चात् अपने दुःखों से मुक्ति पा सकता है ।

६. वैशेषिक दर्शन :

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद थे । उनका दूसरा नाम उलूक था । न्यायदर्शन के साथ वैशेषिक दर्शन की बहुत समानता है, इसका भी उद्देश्य प्राणियों को अपवर्ग कराना है । यह सभी प्रमेयों को अर्थात् संसार की सभी वस्तुओं को द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव-इन सात पदार्थों में विभक्त करता है ।

'द्रव्य' गुणों तथा कर्मों के आश्रय हैं तथा उनसे भिन्न हैं । द्रव्य नौ प्रकार के हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन । इनमें प्रथम पाँच भौतिक हैं । उनके गुण क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द हैं । पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु क्रमशः चार प्रकार के

परमाणुओं से बने हुए हैं । ये परमाणु भौतिक हैं । इनका विभाजन तथा नाश नहीं हो सकता । परमाणुओं की सृष्टि नहीं होती । वे शाश्वत हैं । किसी भौतिक पदार्थ के सबसे छोटे छोटे टुकड़ों को जिनका और अधिक विभाजन नहीं हो सकता, 'परमाणु' कहते हैं । आकाश, दिक् तथा काल अप्रत्यक्ष द्रव्य हैं । ये एक एक हैं, नित्य तथा विभु हैं । मन नित्य है, किन्तु विभु नहीं । यह परमाणु की तरह निरवयव है । यह अन्तरिन्द्रिय है । यह बुद्धि, सोचना तथा सङ्कल्प जैसी मानसिक क्रियाओं का सहायक होता है । मन से एक साथ एक ही अनुभूति हो सकती है, क्योंकि यह परमाणु की तरह अत्यन्त सूक्ष्म होता है । आत्मा शाश्वत तथा सर्वव्यापी द्रव्य है । यह चैतन्य भी सभी अवस्थाओं का आश्रय है । मनुष्य को मन के द्वारा अपने आत्मा की अनुभूति होती है । सांसारिक वस्तुओं के निर्माता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व अनुमान से सिद्ध होता है ।

'**गुण**' उसे कहते हैं जो केवल द्रव्यों में पाया जाता है । गुण को गुण नहीं होता, न उसे कर्म ही होता है । द्रव्य निरवयव हैं, किन्तु गुण को द्रव्य की अपेक्षा रहती है । गुण कुल चौबीस प्रकार के हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, सङ्ख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, संस्कार, धर्म तथा अधर्म ।

'**कर्म**' गत्यात्मक होता है । गुण के सदृश यह भी केवल द्रव्यों में पाया जाता है । कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण तथा गमन ।

किसी वर्ग के साधारण धर्म को '**सामान्य**' कहते हैं । सभी गौओं में एक समानता है जिसके कारण उन सबों की एक जाति होती है तथा उन्हें अन्य जातियों से पृथक् समझा जाता है । इस सामान्य को '**गोत्व**' कहते हैं । किसी गो के जन्म से न तो गोत्व की उत्पत्ति होती है न तो उसके मरन से उसका विनाश हो होता है । अतः '**गोत्व**' नित्य है ।

नित्य द्रव्यों के पार्थक्य के मूल कारण को '**विशेष**' कहते हैं । साधरणतः वस्तुओं की भिन्नता उनके अवयवों तथा गुणों के द्वारा की जाती

है । किन्तु एक प्रकार के परमाणुओं का पारस्परिक विभेद किस तरह किया जायेगा ? प्रत्येक परमाणु की अपनी विशेषता होती है । अन्यथा सभी पार्थिव परमाणुओं के पार्थिव हो के कारण उनका विभेद सम्भव नहीं होता । परमाणुओं की अपनी अपनी विशेषताओं को 'विशेष' कहते हैं । विशेषों को मानने के कारण ही इस दर्शन को 'वैशेषिक दर्शन' कहते हैं ।

स्थायी तथा नित्य सम्बन्ध को '**समवाय**' कहते हैं । अवयवी का अवयवों के साथ, गुण या कर्म का द्रव्य के साथ, सामान्य का व्यक्तियों के साथ समवाय सम्बन्ध पाया जाता है । वस्त्र का अस्तित्व उसके धागों में है । धागों के विना वस्त्र नहीं रह सकता । हरित वर्ण, मधुर स्वाद, सुगन्ध आदि गुण तथा सभी प्रकार के कर्म या गति द्रव्य में ही आश्रित हैं । द्रव्य के विना गुण तथा कर्म नहीं टिक सकते । इस तरह के नित्य सम्बन्ध को '**समवाय**' कहते हैं ।

नहीं रहने को '**अभाव**' कहते हैं । 'यहाँ कोई सर्प नहीं है', 'वह गुलाब लाल नहीं है', 'शुद्ध जल में गन्ध नहीं होती'—ये वाक्य क्रमशः सर्प, लाल रंग और गन्ध का उपर्युक्त स्थानों में अभाव व्यक्त करते हैं । अभाव चार प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव । प्रथम तीन प्रकार के अभावों को 'संसर्गाभाव' कहते हैं । संसर्गाभाव में दो वस्तुओं के संसर्ग का अभाव रहता है ।

१. किसी वस्तु का उत्पत्ति से पहले उपादान में जो उसका अभाव रहता है उसे 'प्रागभाव' कहते हैं । जैसे कुम्भकार द्वारा बर्तन निर्माण के पहले मिट्टी में बर्तन का अभाव रहता है ।

२. किसी वस्तु के ध्वस्त हो जाने के बाद जो उस वस्तु का अभाव हो जाता है उसे 'प्रध्वंसाभाव' कहते हैं । जैसे घट के फूट जाने पर उसके टुकड़ों में घट का अभाव होता है ।

३. दो वस्तुओं में अतीत, वर्तमान तथा भविष्य अर्थात् सर्वदा के लिये जो सम्बन्ध का अभाव रहता है उसे 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं, जैसे वायु में रूप का अभाव ।

४. जब दो वस्तुओं में पारस्परिक भेद रहता है तो उसे 'अन्योन्याभाव' कहते हैं। जैसे घट और पट दो पृथक् वस्तुएँ हैं। घट पट नहीं है, न पट ही घट है। एक का दूसरा न होने का नाम 'अन्योन्याभाव' है।

ईश्वर तथा मोक्ष के विषय में वैशेषिक तथा न्याय के मतों में पूरा साम्य है।

—स्वामी द्वारिकादासशास्त्री
—षड्दर्शनसूत्रसंग्रहः

'अवैदिक-दर्शन'
चार्वाकदर्शन

आचार्य बृहस्पति चार्वाकदर्शन के सूत्र प्रणेता माने जाते है। चार्वाकदर्शन, लोकायतमत-नास्तिकदर्शन इत्यादि नाम से भी प्रसिद्ध है। चार्वाकदर्शन के कोई इष्ट देव नही है। न धर्म है, न पुण्य है न पाप है क्योंकि धर्मादिका आधार, पुण्यपाप का कर्ता आत्मा स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। परलोक, निर्वाण इत्यादि चार्वाक के मतानुसार कल्पित पदार्थ है। जो कि अज्ञ जीवो को भयभीत करने के लिये कल्पित किये गये है।

वस्तुतः पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु यह चार जगत् के मूल तत्त्व है। इस चार तत्त्वो के सम्मिश्रण से ही शरीर इन्द्रिय या विषय (पदार्थ) का सर्जन होता है। चैतन्य, इन्हीं चार तत्त्वो के विशिष्ट संयोजन का परिणाम है। जिस तरह सड़ा हुआ अनाज, शर्करा इत्यादि तत्त्वो के सम्मिश्रण से मदिरा में मदशक्ति उत्पन्न होती है उसी तरह चार तत्त्वों के संयोजन से चैतन्य उत्पन्न होता है। और चार तत्त्वों के विघटन से चैतन्य नष्ट होता है। मृत्यु के बाद चैतन्य का अस्तित्व नहीं रहता।

चार्वाक सिर्फ दृश्यमान भौतिक जगत् की सत्ता का स्वीकार करता है। केवल प्रत्यक्षप्रमाणवादी होने से परलोक मुक्ति इत्यादि पारलौकिक सत्ताओं का निषेध करता है।

बौद्धदर्शन :

बौद्धदर्शन के आद्य प्रणेता और देवता गौतम बुद्ध है । क्षणिकवाद और संघातवाद बौद्धदर्शन के मूलभूत सिद्धांत है । 'पदार्थमात्र का वास्तविक अस्तित्व केवल एक क्षण का है ।' यह क्षणिकवाद है । और 'पदार्थमात्र, परमाणुओं के समूह से निष्पन्न आकार स्वरूप है । परमाणु से स्वतन्त्र पदार्थ का कोई अस्तित्व नही' यह संघातवाद है । आत्मा भी मानसिक प्रवृत्तिओ के पुंज स्वरूप ही है ।

क्षणजीवी परमाणुओं के स्कन्ध शाश्वत और अवयवी होने का भ्रम उत्पन्न करते है इसीलये दुःख रूप है । बौद्धदर्शन में चार आर्यसत्य का प्रतिपादन है । दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध, दुःखनिरोधमार्ग । दुःख इसमें प्रथम है । दुःख के पाँच भेद है । रूप, संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान।

(१) **रूप** :—गुरुत्व धारक और जगह रोकनेवाला पदार्थ रूप है । पृथ्वी, जल, तेज वायु और तज्जन्य शरीर रूप पद से विवक्षित है ।

(२) **नाम** :—रूप से विरुद्ध धर्म 'नाम' के होते है । नाम का अर्थ है मन और मानसिक गतिविधि ।

बौद्धमत के अनुसार आत्मा नामरूपात्मक है । अर्थात् शरीर-मन, भौतिक और मानसिक प्रवृत्ति का समुच्चय है । स्वतन्त्ररूप से चेतना स्वरूप या चैतन्य का अधिष्ठाता नहीं ।

(३) **संज्ञा** :—पदार्थ का साक्षात्कार करना 'संज्ञा' है ।

(४) **वेदना** :—संज्ञा = पदार्थ के अनुभव से जन्य सुख-दुःख या उदासीनता के भावको वेदना कहते है ।

(५) **संस्कार** :—स्मृतिकी हेतु और अनुभव जन्य मानसिक चेष्टा संस्कार है ।

(६) **विज्ञान** :—लोक द्वारा चैतन्य पद से जिसका व्यपदेश होता है, बौद्ध मतमें उसको विज्ञान कहते है, विज्ञान और संज्ञा में निर्विकल्प और

सविकल्पक प्रत्यक्ष जैसा भेद है । नामजात्यादि योजना रहित प्रत्यक्ष 'विज्ञान' है और नामजात्यादि योजना सहित प्रत्यक्ष 'संज्ञा' है ।

द्वितीय आर्यसत्य है 'दुःखसमुदय' । समुदय=कारण । दुःख का कारण कोई एक नहीं अपितु शृंखला है । इस शृंखला को द्वादशनिदान कहते है । जरामरण-जाति-भव-उपादान-तृष्णा-वेदना-स्पर्श-षडायतन-नामरूप-विज्ञान-संस्कार-अविद्या । अन्तिम तत्त्व अविद्या समस्त दुःखो का मूल निदान है । उत्तरवर्ति निदान पूर्ववर्ति निदान का हेतु = जनक है (इस तरह पूरी शृंखला दुःखसमुदय है) यह शृंखलाबद्ध कार्यकारणभाववाद प्रतीत्यसमुत्पाद के नाम से प्रसिद्ध है ।

तीसरा आर्यसत्य है—'दुःखनिरोध' । दुःख के कारण दूर होने के कारण दुःख का नाश होता है ।

'दुःखनिरोधमार्ग' चतुर्थ आर्यसत्य है । इसका मतलब है निर्वाण का उपाय । आर्यअष्टांगिक मार्ग दुःखमुक्ति का एकमेव राजमार्ग है ।

सम्यग्ज्ञान-सम्यक्संकल्प-सम्यक्वचन-सम्यक्कर्मान्त (सदाचरण) सम्यगाजीव (=न्याययुक्त द्रव्य साधना) सम्यग् व्यायाम (=शुभ मानसिकता का उद्यम) सम्यक्स्मृति=चित्त शरीर इत्यादि के विषय में अनित्यादि की भावना) सम्यक् समाधि । आर्य अष्टांगिक मार्ग के आचरण से प्रज्ञा का उदय होता है और प्रज्ञा के उदय से निर्वाण प्राप्ति ।

दार्शनिक पृष्ठभूमि पर बौद्धदर्शन चार भागों में विभक्त है । वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक ।

वैभाषिक और सौत्रान्तिक बाह्यार्थ की सत्ता का स्वीकार करते है । योगाचार और माध्यमिक बाह्यार्थ की सत्ता का इन्कार करते है ।

वैभाषिको के मत से बाह्यार्थ सत् है और इन्द्रियगम्यप्रत्यक्ष है । दार्शनिक परिभाषा में वैभाषिको को बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी के रूप में जाना जाता है । बाह्यार्थ की तरह निर्वाण भी वस्तुसत् पदार्थ है ।

सौत्रान्तिक बाह्यार्थ की सत्ता की स्वीकार करता है, लेकिन बाह्यार्थ इन्द्रियग्राह्य नही है अपितु अनुमेय है । यह मत बाह्यार्थानुमेयवाद के नाम से प्रचलित है । सौत्रान्तिक के अभिप्रायानुसार निर्वाण अवस्तुसत् पदार्थ है ।

योगाचार मत विज्ञानवादी है । इस मत का मानना है कि विज्ञान की ही सत्ता पारमार्थिक है । क्योंकि जागतिक प्रवृत्ति का निर्वाह विज्ञान से ही होता है । प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञान के भेद से विज्ञान दो प्रकार का है । प्रवृत्तिविज्ञान स्थूल जगत् की प्रवृत्ति का कारण है । चित्त की धारा आलयविज्ञान है । निर्वाण सत् पदार्थ है ।

माध्यमिक सम्प्रदाय न बाह्यार्थ को सत् मानता है न विज्ञान को । 'शून्य' ही परमार्थ सत् है । शून्य अनिर्वचनीय पदार्थ है । वही सत्य है । निर्वाण भी असत्य है ।

जैनदर्शन :

जिन से मतलब है 'रागद्वेषविजेता' । जैनदर्शन के देवता 'जिन' है । अर्हत्, तीर्थंकर, जिनेन्द्र इत्यादि उनके पर्याय नाम है ।

तत्त्व छः है । पाँच अस्तिकाय और काल । अस्तिकाय = सावयव = सप्रदेशी द्रव्य । जीव-धर्म-अधर्म-आकाश और पुद्गल यह पाँच द्रव्य अस्तिकाय है ।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्य यह पंचगुणात्मक चैतन्य को आत्मा कहते है । 'धर्म' गति में सहायक द्रव्य है । अधर्म स्थिति में सहायक है । अवकाश-अर्पणा आकाश का स्वभाव है । शब्द-रूप-रस-गंध-स्पर्श-प्रभा-आतप इत्यादि पुद्गल के लक्षण है । वर्तमान-भूत-भविष्यत् इत्यादि द्रव्य की वर्तना का कारण कालद्रव्य है ।

स्व-परव्यवसायि ज्ञान प्रमाण है । प्रमाण के दो भेद है । प्रत्यक्ष और परोक्ष । लिंगादि बाह्य सामग्री और इन्द्रियादि सन्निहित सामग्री की सहायता से निरपेक्ष साक्षात् आत्मा को होनेवाला अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान है । यद्यपि इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष है फिर भी इनका प्रत्यक्ष के रूप में व्यवहार होता

है इसलिये सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है । पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन भेद है । केवलज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, अवधिज्ञान । परोक्ष ज्ञान के दो भेद है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान । इन्द्रियजन्य और मनोजन्य ज्ञान मतिज्ञान है पद-पदार्थ सम्बन्धजन्य ज्ञान श्रुतज्ञान है ।

हरेक सत् पदार्थ स्वभाव से ही अनंतधर्मात्मक है । एक दूसरे से विरोधी धर्म एक वस्तु में स्वभाव से ही विद्यमान है । नित्यानित्य, सदसत् आदि धर्म एक साथ ही वस्तु में विद्यमान है । अन्यथा उनका बोध सम्भव नहीं । परोक्ष ज्ञान की मर्यादा के कारण वस्तु का सर्वांगीण बोध शक्य नही । उसके एक अंश का ही बोध सम्भव है । वस्तु का यह स्वरूप ही स्याद्वाद और नयवाद को आधारशिला है ।

स्याद्वाद = 'स्याद्' का अर्थ है अपेक्षा । उपलभ्यमान वस्तु के अनेक अंशो में से एक अंश की जिज्ञासा या विवक्षा अपेक्षा पदार्थ है । अपेक्षा सहित का वाद स्याद्वाद है । वस्तु का अंश भावात्मक भी है और अभावात्मक भी । भाव की विवक्षा होती है अभाव की विवक्षा होती है । कदाचित् भावाभाव के क्रम की विवक्षा होती है । भावात्मक अंश और अभावात्मक अंश दोनों का एक साथ प्राधान्येन प्रतिपादन अशक्य है इसीलये इस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य है । अव्यक्तव्यत्व की अपेक्षा का हेतु शाब्दिक ज्ञान की मर्यादा है । इस तरह भाव-अभाव-क्रम और अवक्तव्य इन चार अपेक्षातत्त्वो के संयोजन से सप्तभंगी का उदय होता है । सप्तभंगी का विवेचन निम्न प्रकार से है ।

स्याद् अस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्ति स्यादवक्तव्यम्, स्यान्नास्ति स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्ति-स्यान्नास्ति-स्यादवक्तव्यम् ।

नयवाद :- अनंत धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का प्राधान्येन अभिप्राय रखने वाली दृष्टि को 'नय' कहते है । सप्तभंगी शब्दात्मक है और नय बोधप्रधान है । दोनों में अपेक्षा तत्त्व समान है । सामान्यतः नय के सात प्रकार है । नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय,

समभिरूढनय, एवंभूतनय ।

१. **नैगमनय :**	उपचार बहुल लोकव्यवहार नैगमनय कहलाता है ।
२. **संग्रहनय :**	वस्तुतत्त्व के सामान्य धर्म का ग्रहण करनेवाली दृष्टि है ।
३. **व्यवहारनय :**	वस्तुतत्त्व के विशेष धर्म का स्थूलरूप से ग्रहण करने वाली दृष्टि ।
४. **ऋजुसूत्रनय :**	वस्तुतत्त्व के वर्तमान और स्वकीय धर्म को ग्रहण करनेवाली दृष्टि ।
५. **शब्दनय :**	सामान्यतः शब्द की अर्थ प्रत्यायन शक्ति का ग्रहण करनेवाली दृष्टि ।
६. **समभिरूढनय :**	प्रकृति प्रत्यय के निश्चित अर्थ द्वारा ही शब्दो में अर्थ प्रत्यायनशक्ति का ग्रहण करनेवाली दृष्टि ।
७. **एवंभूतनय :**	द्रव्य के अर्थानुकूलव्यापारकाल में ही अर्थ प्रत्यायन शक्ति का स्वीकार करनेवाली दृष्टि ।

नयो की यह अत्यंत स्थूल परिभाषा है । स्याद्वाद और नयवाद जैनदर्शन के विशिष्ट एवं मौलिक सिद्धांत है ।

—मुनिवैराग्यरतिविजय

—षड्दर्शनसमुच्चय प्रवेशक

षड्दर्शनसमुच्चयः

(सटीकः)

षड्दर्शनसमुच्चयः

श्रीसोमतिलकसूरिकृता लघुवृत्तिः

अज्ञातकर्तृका अवचूरिः

सज्ज्ञानदर्पणतले विमलेऽत्र यस्य ये केचिदर्थनिवहाः प्रकटीबभूवुः ।
तेऽद्यापि भान्ति कलिकालजदोषभस्मप्रोद्दीपिता इव शिवाय स मेऽस्तु वीरः ॥१॥

जैनं यदेकमपि बोधविधायि वाक्यमेवं श्रुतिः फलवती भुवि येन चक्रे ।
चारित्रमाप्य वचनेन महत्तरायाः श्रीमान् स नन्दतु चिरं हरिभद्रसूरिः ॥२॥

सन्निधेहि तथा वाणि षड्दर्शनाङ्कषड्भुजे ।
यथा षड्दर्शनव्यक्तिस्पष्टने प्रभवाम्यहम् ॥३॥

व्यासं विहाय सङ्क्षेपरुचिसत्त्वानुकम्पया ।
टीका विधीयते स्पष्टा षड्दर्शनसमुच्चये ॥४॥

इह हि श्रीजिनशासनप्रभावनाविभावकप्रभोदयभूरियशाश्चतुर्दशशत-प्रकरणकरणोपकृतजिनधर्मो भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिः षड्दर्शनप्रमाणपरिभाषा-स्वरूपजिज्ञासुशिष्यहितहेतवे प्रकरणमारिप्समानो निर्विघ्नशास्त्रपरिसमाप्त्यर्थं स्वपरश्रेयोऽर्थं च समुचितेष्टदेवतानमस्कारपूर्वकमभिधेयमाह-

सद्दर्शनं जिनं नत्वा वीरं स्याद्वाददेशकम् ।
सर्वदर्शनवाच्योऽर्थः सङ्क्षेपेण निगद्यते ॥१॥

(सो०) अर्थो निगद्यतेऽभिधीयत इति सम्बन्धः । अर्थशब्दोऽत्र अभिधेयवाचको ग्राह्यः ।

"**अर्थोऽभिधेयैरवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु**" इत्यनेकार्थवचनात् । 'मया'

इत्यनुक्तस्यापि गतार्थत्वात् । किंविशिष्टोऽर्थः ? **सर्वदर्शनवाच्य** इति । सर्वाणि च तानि दर्शनानि बौद्धनैयायिकजैनवैशेषिकसाङ्ख्यजैमिनीयादीनि समस्तमतानि वक्ष्यमाणानि तेषु वाच्यः कथनीयः । किं कृत्वा ? **जिनं नत्वा** । सामान्यमुक्त्वा विशेषमाह । कं जिनम् ? **वीरं** वर्द्धमानस्वामिनम् । वीरमिति साभिप्रायम् । प्रमाणवक्तव्यस्य परपक्षोच्छेदादिसुभटवृत्तित्वात्, भगवतश्च दुःखसम्पादिविषमोपसर्गसहिष्णुत्वेन सुभटरूपत्वात् । तथा चोक्तम्—

विदारणात्कर्मततेर्विराजनात्तपःश्रिया विक्रमतस्तथाद्भुतात् ।
भवत्प्रमोदः किल नाकिनायकश्चकार ते वीर इति स्फुटाभिधाम् ॥

इति युक्तियुक्तं ग्रन्थारम्भे वीरजिननमस्करणं प्रकरणकृतः । यद्वा आसन्नोपकारित्वेन युक्ततरमेव श्रीवर्द्धमानतीर्थकृतो नमस्करणम् । तमेव विशिनष्टि । किम्भूतम् ? **सद्दर्शनं** सत् = शोभनं, दर्शनं = शासनं, सामान्यावबोधलक्षणं ज्ञानं सम्यक्त्वं वा यस्य स तमिति । ननु दर्शनचारित्रयोरुभयोरपि मुक्त्यङ्गत्वात् किमर्थं सद्दर्शनमित्येकमेव विशेषणमाविष्कृतम्, न, दर्शनस्यैव प्राधान्यात् । यत्सूत्रम्-

भट्ठेण चरित्ताउ दंसणमिह दढयरं गहेयव्वं ।
सिज्झंति चरणरहिया दंसणरहिया न सिज्झंति ॥

इति तद्विशेषणमेव युक्तम् । पुनः किम्भूतम् ? **स्याद्वाददेशकम्** । स्याद् विकल्पितो वादः स्याद्वादः, सदसन्नित्यानित्याभिलाप्यानभिलाप्यसामान्यविशेषात्मकस्तं दिशति भविकेभ्य उपदिशति यस्तम् । अत्रादिमार्द्धेभगवतोऽतिशयचतुष्टयमाक्षिप्तम् । सद्दर्शनमिति दर्शनज्ञानयोः सहचारित्वाज्ज्ञाना-तिशयः । जिनं वीरमिति रागादिजेतृत्वात् अष्टकर्माद्यपायनिराकर्तृत्वाच्च अपायापगमातिशयः । स्याद्वाददेशकमिति वचनातिशयः । ईदृग्विधस्य निरन्तर-भक्ति-भर-निर्भर-सुरासुर-निकाय-निषेव्यत्वमानुषङ्गिकमिति पूजातिशयः, इति प्रथमश्लोकार्थः ॥१॥

अवचूरिः

श्रीमद्वीरजिनं नत्वा हरिभद्रगुरुं तथा ।
किञ्चिदर्थाप्यते युक्त्या षड्दर्शनसमुच्चयम् ॥

(**अव०**) सत् शोभनं दर्शनं सामान्यावबोधलक्षणं ज्ञानं सम्यक्त्वं लोचनं वा यस्य, जिनो रागादिजेतृत्वात्, वीरमिति साभिप्रायं प्रमाणवक्तव्यस्य परपक्षच्छेदादि- (परपक्षोच्छेदादेः) सुभटवृत्तित्वात् भगवतश्च दुःखसम्पादिविषमोपसर्गसहिष्णुत्वेन- सुभटत्वात् । यदुक्तम्—

विदारणात् कर्मततेर्विराजनात्तपःश्रिया विक्रमतस्तथाद्भुतात् ।
भवत्प्रमोदः किल नाकिनायकश्चकार ते वीर इति स्फुटाभिधाम् ॥

स्याद्विकल्पितो वादः स्याद्वादः, सदसन्नित्यानित्यादिः तं दिशति यस्तम् । सर्वाणि च तानि दर्शनानि च बौद्धादीनि तद्वाच्यः अर्थोऽभिधेयः अर्थोऽभिधेयैर वस्तुप्रयोजननिवृत्तिष्वित्यनेकार्थः सङ्क्षेपेणैव, विस्तरकरणं दुरवगाहम् ॥१॥

कानि तानि दर्शनानीति व्यक्तितस्तत्सङ्ख्यामाह—

दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया ।
देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ॥२॥

(**सो०**) **अत्र** जगति प्रसिद्धानि **षडेव दर्शनानि** । एव- शब्दोऽवधारणे । यद्यपि भेदप्रभेदतया बहूनि दर्शनानि प्रसिद्धानि । यदुक्तं सूत्रे- (= सूत्रकृताङ्गसूत्रे)

असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण हुंति चुलसीई ।
अन्नाणि य सत्तट्ठी वेणइआणं च बत्तीसं ॥ (सू. नि. ११९)

इति त्रिषष्ट्यधिका त्रिशती पाषण्डिकानाम् । बौद्धानां चाष्टादश निकायभेदाः, वैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकादयो भेदाः । जैमिनेश्च शिष्यकृता बहवो भेदाः ।

उत्पलः कारिकां वेत्ति तन्त्रं[1] वेत्ति प्रभाकरः ।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किञ्चिदपि रेवणः ॥

अपरेऽपि बहूदककुटीचरहंसपरमहंसभाट्टप्राभाकरादयो बहवोऽन्तर्भेदाः ।

---

१. तन्त्रं = टीकां ।

अपरेषामपि दर्शनानां देवतातत्त्वप्रमाणादिभिन्नतया बहुभेदाः प्रादुर्भवन्ति, तथापि परमार्थतस्तेषामेष्वेवान्तर्भावात् षडेवेति सावधारणं पदम् । ननु सङ्घटमानान्इयतो भेदानुपेक्ष्य किमर्थं षडेवेत्याह-**मूलभेदव्यपेक्षया** । मूलभेदास्तावत् षडेव षट्सङ्ख्यास्तेषां व्यपेक्षया तानाश्रित्येत्यर्थः । तानि च दर्शनानि **मनीषिभिः** पण्डितै**र्ज्ञातव्यानि** बोद्धव्यानि । केन प्रकारेणेति-**देवतातत्त्वभेदेन** । देवता = दर्शनाधिष्ठायिकाः, तत्त्वानि च मोक्षसाधनानि रहस्यानि, तेषां भेदस्तेन पृथक्-पृथक् दर्शनदेवता दर्शनतत्त्वानि च ज्ञेयानीत्यर्थः ॥२॥

(अव०) प्रसिद्धानि दर्शनानि षडेव । एवोऽवधारणे । यद्यपि भेदप्रभेदतया बहूनि दर्शनानि प्रसिद्धानि । यदुक्तम्—

असियसयं किरियाणं अक्किरियवाईणमाह चुलसीई ।
अन्नाणी सत्तट्ठी वेणइआणं च बत्तीसं ॥

इत्यादि । मूलभेदापेक्षया मूलभेदानाश्रित्य, वैभाषिकसौत्रान्तिकबहूदक-कुटीचरहंसपरमहंसभट्टप्रभाकरादिसम्भवश्चैतदन्तर्गत एव । देवता = दर्शनाधिष्ठायकः । तत्त्वानि = रहस्यानि मोक्षसाधकानि ॥२॥

तेषामेव दर्शनानां नामान्याह-

बौद्धं नैयायिकं साङ्ख्यं जैनं वैशेषिकं तथा ।
जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो ॥३॥

(सो०) अहो इति इष्टामन्त्रणे । **दर्शनानां** मतानाम**मूनि नामानी**ति सङ्ग्रहः । ज्ञेयानीति क्रिया अस्तिभवत्यादिवदनुक्ताप्यवगन्तव्या । तत्र **बौद्ध**मिति बुद्धो देवतास्येति बौद्धं सौगतदर्शनम् । **नैयायिकं** पाशुपतदर्शनम् । तत्र न्यायः प्रमाणमार्गस्तस्मादनपेतं नैयायिकमिति व्युत्पत्तिः । **साङ्ख्य**मिति कापिल-दर्शनम् । आदिपुरुषनिमित्तेयं सञ्ज्ञा । **जैन**मिति जिनो देवतास्येति जैनमार्हतं दर्शनम् । **वैशेषिकम्** इति काणाददर्शनम् । दर्शनदेवतादिसाम्येऽपि नैयायिकेभ्यो द्रव्यगुणादिसामग्र्या विशिष्टमिति वैशेषिकम् । **जैमिनीयं** जैमिनिऋषिमतं भाट्टदर्शनम् । **चः** समुच्चयस्य दर्शकः । एवं तावत् षड्दर्शननामानि ज्ञेयानि

शिष्येणेत्यवसेयम् ॥३॥

(अव०) बुद्धो देवतास्येति बौद्धम् । न्यायादनपेतं नैयायिकम् । साङ्ख्यं कापिलदर्शनम् । जैनो देवतास्येति जैनम् । वैशेषिकं कणाददर्शनम् । जैमिनिऋषिमतं जैमिनीयं भाट्टं दर्शनम् । चः समुच्चये ॥३॥

अथ द्वारश्लोके प्रथममुपन्यस्तत्वाद् बौद्धदर्शनमेवादावाचष्टे-

तत्र बौद्धमते तावद्देवता सुगतः किल ।
चतुर्णामार्यसत्यानां दुःखादीनां प्ररूपकः ॥४॥

(सो०) तत्र तस्मिन् **बौद्धमते** सौगतशासने । **तावदिति** प्रक्रमे **सुगतो देवता** बुद्धो देवता बुद्धभट्टारको दर्शनादिकरः **किले**त्याप्तप्रवादे । तमेव विशिनष्टि कथम्भूतः ? तत्त्वनिरूपकत्वेन **प्ररूपको** दर्शकः कथयितेति यावत् । केषामित्याह-**आर्यसत्यानाम्** । आर्यसत्यनामधेयानां तत्त्वानाम् । कति-सङ्ख्यानामिति **चतुर्णां** चतूरूपाणाम् । किंरूपाणामित्याह । **दुःखादीनां** दुःखसमुदयमार्गनिरोधलक्षणानाम् । आदिशब्दोऽवयवार्थोऽत्र । यदुक्तम्—

सामीप्येऽथ व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा ।
चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी आदिशब्दं तु लक्षयेत् ॥

एवंविधः सुगतो बौद्धमते देवता ज्ञेय इत्यर्थः ॥४॥

(अव०) चतुर्णां दुःखदुःखसमुदयमार्गनिरोधलक्षणानाम् आर्यसत्यानां तत्त्वानां प्ररूपकः कथयिता सुगतो नाम । आदिशब्दोऽत्र अवयवार्थः, यदुक्तम्—

सामीप्येऽथ व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा ।
चतुर्ष्वेषु मेधावी आदिशब्दं तु लक्षयेत् ॥४॥

आदिममेव तत्त्वं विवृण्वन्नाह—

दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विज्ञानं वेदना सञ्ज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥५॥

(सो०) **दुःखं** किमुच्यत इत्याशङ्कायां **संसारिणः स्कन्धाः** । संसरन्तीति संसारिणो विस्तरणशीलाः स्कन्धाः प्रचयविशेषाः । संसारेऽमी चयापचयरूपा भवन्तीत्यर्थः । ते च स्कन्धाः **पञ्च प्रकीर्तिताः** पञ्चसङ्ख्याः कथिताः । के ते ? इत्याह- **विज्ञानं वेदना सञ्ज्ञा संस्कारो रूपमेव चेति** । तत्र विज्ञानमिति-विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं सर्वक्षणिकत्वज्ञानम् । यदुक्तम्—

यत् सत्तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा इमे
सत्ताशक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा च सा ।
नाप्येकैव विधान्यथापि परकृन्नैव क्रिया वा भवेद्
द्वेधापि क्षणभङ्गसङ्गतिरतः साध्ये च विश्राम्यति ॥

इति विज्ञानम् । वेदनेति-वेद्यत इति वेदना पूर्वभवपुण्यपापपरिणामबद्धाः सुखदुःखानुभवरूपाः । तथा च भिक्षुर्भिक्षामटंश्चरणे कण्टके लग्ने प्राह-

इत एकनवतेः कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥ इत्यादि

सञ्ज्ञेति-सञ्ज्ञानामकोऽर्थः । सर्वमिदं सांसारिकं सचेतनाचेतन-स्वरूपव्यवहरणं सञ्ज्ञामात्रं नाममात्रम् । नात्र कलत्रपुत्रमित्रभ्रात्रादिसम्बन्धो घटपटादिपदार्थसार्थो वा पारमार्थिकः । तथा च तत्सूत्रम्—

"तानीमानि भिक्षवः सञ्ज्ञामात्रं व्यवहारमात्रं कल्पनामात्रं संवृति-मात्रमतीतोऽध्वानागतोऽध्वा सहेतुको विनाश आकाशं पुद्गलाः" इति ।

संस्कार इति-इहपरभवविषयः सन्तानपदार्थनिरीक्षणप्रबुद्धपूर्वानुभूत-संस्कारस्य प्रमातुः स एवायं देवदत्तः, सैवेयं दीपकलिकेत्याद्याकारेण ज्ञानोत्पत्तिः संस्कारः । यदाह—

यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना ।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा ॥ इति

रूपमिति-रगरगायमाणपरमाणुप्रचयः । बौद्धमते हि स्थूलरूपस्य जगति विवर्तमानपदार्थजातस्य तद्दर्शनोपपत्तिभिर्निराक्रियमाणत्वात् परमाणव एव तात्त्विकाः । चः पुनरर्थः । एवेति पूरणार्थः ॥५॥

(**अव०**) संसरन्तीति संसारिणो विस्तरणशीलाः । स्कन्धाः प्रचयविशेषाः दुःखं ते च पञ्च । विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं सर्वक्षणिकत्वज्ञानम् । यदुक्तम्—

यत्सत्तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा इमे ।

वेद्यत इति वेदना, पूर्वभवपुण्यपापपरिणामबद्धाः सुखदुःखानुभवरूपा । तथोक्तम्-

इत एकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तत्कर्मणो विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥

सञ्ज्ञेति सर्वं वा चेनं सचेतनाचेतनं सञ्ज्ञामात्रं नाममात्रम्, नात्र पुत्रकलत्रभ्रातृत्वादिः घटपटादिर्वा पारमार्थिकः । पूर्वानुभूतरूपः संस्कारः, स एवायं देवदत्त इत्याद्याकारेण ज्ञानोत्पत्तिः संस्कारः सैवेयं दीपकलिकेति रूपम् इति रगरगायमाणपरमाणुप्रचयः, बौद्धमते हि स्थूलरूपपदार्थस्य निराक्रियमाणत्वाद् चेतनत्वेन परमाणव एव तात्त्विकाः ॥५॥

दुःखनामधेयमार्यसत्यं पञ्चभेदतया निरूप्य अथ समुदयतत्त्वस्य स्वरूपमाह-

समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः समुदयः स सम्मतः ॥६॥

(**सो०**) **यतो** यस्माल्लोके **रागादीनां** रागद्वेषमोहानाम**खिलः** समस्तो **गणः समुदे**त्युद्भवति । कीदृगित्याह-**आत्मात्मीयस्वभावाख्यः** । अयमात्मा, अयं चात्मीयः, पदे पदसमुदायोपचारादयं परः अयं च परकीय इत्यादिभावो रागद्वेषनिबन्धनं तदाख्यः-तन्मूलो रागादीनां गणः । आत्मात्मीयरूपेण रागरूपः परपरकीयपरिणामेन च द्वेषरूपो **यतः समुदेति स समुदयः** समुदयो नाम तत्त्वं **सम्मतो** बौद्धदर्शनेऽभिमत इति ॥६॥

(**अव०**) रागद्वेषमोहानां समस्तो गणो यस्मात् समुदेति समुद्भवति । अयमात्मा अयमात्मीयः पदे पदसमुदायोपचारात्, अयं परः परकीय इति भावो रागद्वेषनिबन्धनं स समुदयः ॥६॥

अथ तृतीयचतुर्थतत्त्वे प्रपञ्चयन्नाह—

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना तु या ।
स मार्ग इह विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते ॥७॥

(सो०) **सर्वसंस्काराः क्षणिकाः** । सर्वेषां विश्वत्रयविवरविवर्तमानानां घटपटस्तम्भाम्भोरुहादीनां द्वितीयादिक्षणेषु स एवायं स एवायमित्याद्युल्लेखेन ये संस्कारा ज्ञानसन्ताना उत्पद्यन्ते ते विचारगोचरगताः क्षणिकाः । यत्प्रमाणयन्ति- **'सर्वं सत् क्षणिकम्, अक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादिति वादस्थलमभ्यूह्यम्'** क्षणिकत्वाविशेषकम् । विशेषोपपत्तिश्च समग्रं तावदौत्पत्तिकं पदार्थकदम्बकं घटपटादिकं मुद्‌गरादिसामग्रीसाकल्ये विनश्वरमाकलय्यते । तत्र योऽस्य प्रान्त्यावस्थायां विनाशस्वभावः स पदार्थोत्पत्तिसमये विद्यते न वा ? अथ विद्यते चेत्; आपतितं तदुत्पत्तिसमयानन्तरमेव विनश्वरत्वम् । अथेदृश एव स्वभावो यत्कियन्तमपि कालं स्थित्वा विनष्टव्यम् । एवं चेन्मुद्‌गरादि-सन्निधानेऽप्येष एव तस्य स्वभाव इति भूयोऽपि तावत्कालं स्थेयम् । एवं मुद्‌गरादिघातशतपातेऽपि न विनाशो, जातं कल्पान्तस्थायित्वं घटस्य । तथा च जगद्व्यवहारव्यवस्थालोपपातकपङ्किलतेत्यभ्युपेयमनिच्छताऽपि क्षणक्षयित्वं पदार्थानाम् । प्रयोगस्त्वेवम्-वस्तु उत्पत्तिसमयेऽपि विनश्वररूपं, विनश्वर-स्वभावत्वाद्, यद्विनश्वरं तदुत्पत्तिसमयेऽपि तत्स्वरूपं यथा अन्त्यक्षणवर्तिघटस्य स्वरूपम्, विनश्वरस्वभावं च रूपरसादिकमुदयत आरभ्येति स्वभावहेतुः ।

ननु यदि क्षणक्षयिणो भावाः कथं तर्हि स एवायमिति वासनाज्ञानम् । उच्यते-निरन्तरसदृशापरापरक्षणनिरीक्षणचैतन्योदयादविद्यानुबन्धाच्च पूर्वक्षण-प्रलयकाल एव दीपकलिकायामिव सैवेयं दीपकलिकेति संस्कारमुत्पाद्य तत्सदृशमपरक्षणान्तरमुदयते । तेन समानाकारज्ञानपरम्परापरिचयचिरतरपरि-णामान्निरन्तरोदयाच्च पूर्वक्षणानामत्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमित्यध्यवसायः प्रसभं प्रादुर्भवति । दृश्यते चावलूनपुनरुत्पन्नेषु नखकेशकलापादिषु स एवायमिति प्रतीतिः । तथेहापि किं न सम्भाव्यते सुजनेन । तस्मात्सिद्धं साधनमिदं यत्सत्तत् क्षणिकमिति । युक्तियुक्तं च **क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना** इति । प्रस्तुतार्थमाह-एवं **या वासना स मार्गो** नामार्यसत्यम्; **इह** बौद्धमते,

विज्ञेयोऽवगन्तव्यः । **तुशब्दः** पाश्चात्यार्थसङ्ग्रहः पूर्वसमुच्चयार्थे । चतुर्थमार्यसत्यमाह-**निरोधः** किमित्याशङ्कायां **मोक्ष उच्यते** । मोक्षोऽपवर्गः । सर्वक्षणिकत्वसर्वनैरात्म्यवासनारूपो निरोधो नामार्यसत्यमभिधीयत इत्यर्थः ॥७॥

(अव०) सर्वेषां घटपटादीनां स एवायमिति ये संस्कारा ज्ञानसन्तानास्ते क्षणिकाः, सर्वं सत् क्षणिकम् अक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्, एवं या वासना स मार्गः । तुशब्दः पाश्चात्यार्थसङ्ग्रहार्थं पूर्वसमुच्चयार्थे । निरोधो मोक्षः । सर्वक्षणिकत्वनैरात्म्यवासनारूपः मार्गः ॥७॥

अथ तत्त्वानि व्याख्याय तत्संलग्नान्येवायतनान्याह-

पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च ॥८॥

(सो०) पञ्चसङ्ख्यानीन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्ररूपाणि । **शब्दाद्या विषयाः पञ्च,** शब्दरूपरसस्पर्शगन्धरूपाः पञ्च विषया इन्द्रियव्यापारा इत्यर्थः । **मानसं** चित्तम् । **धर्मायतन**मिति धर्मप्रधानमायतनं धर्मायतनं चैत्यस्थानमिति । **एतानि** द्वादशसङ्ख्यानि ज्ञातव्यानि न केवलमेतानि **द्वादशायतनानि** जाति-जरा-मरण-भवोपादान-तृष्णा-वेदना-स्पर्श-नामरूप-विज्ञान-संस्काराविद्यारूपाणि द्वादशायतनानि । **चः** समुच्चये । अमी सर्वेऽपि संस्काराः क्षणिकाः । शेषं तदेवेति ॥८॥

(अव०) पञ्चेन्द्रियाणि प्रसिद्धानि । शब्दरूपरसगन्धस्पर्शरूपाः विषयाः । मानसं चित्तम् । धर्मायतनं धर्मप्रधानमायतनं चेत्यादि । एतानि द्वादशायतनानि तत्त्वानन्तरं निरूप्यन्ते ॥८॥

तत्त्वानि व्याख्यायाधुना प्रमाणमाह—

प्रमाणे द्वे च विज्ञेये तथा सौगतदर्शने ।
प्रत्यक्षमनुमानं च सम्यग्ज्ञानं द्विधा यतः ॥९॥

(सो०) **तथेति** प्रस्तुतानुसन्धाने । **सौगतदर्शने** बौद्धमते । **द्वे प्रमाणे विज्ञेये** । **चशब्दः** पुनरर्थे । तदेवाह-**प्रत्यक्षमनुमानं च** । अक्षमक्षं **प्रति गतं** प्रत्यक्षमैन्द्रियकमित्यर्थः । अनुमीयत इत्यनुमानं लैङ्गिकमित्यर्थः । **यतः सम्यग्ज्ञानं** निश्चितावबोधो **द्विधा** द्विप्रकारः । सम्यग्ग्रहणं मिथ्याज्ञान-निराकरणार्थम् । प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेवेत्यर्थः ॥९॥

(अव०) तथा सौगतदर्शने द्वे प्रमाणे । चः पुनरर्थे । अक्षमक्षं **प्रति गतं** प्रत्यक्षम् ऐन्द्रियकम् । अनुमीयतेऽनुमानं लैङ्गिकम् । सम्यग्ज्ञानं निश्चितावबोधो द्विविध एव ॥९॥

पृथक्पृथग्दर्शनापेक्षलक्षणसाङ्कर्यभीरुः कीदृक् प्रत्यक्षमत्र ग्राह्य-मित्याशङ्कायामाह-

प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं तत्र बुध्यताम् ।
त्रिरूपाल्लिङ्गतो लिङ्गिज्ञानं त्वनुमानसञ्ज्ञितम् ॥१०॥

(सो०) तत्र प्रमाणोभय्यां **प्रत्यक्षं बुध्यतां** ज्ञायतां शिष्येणेति । कथम्भूतं ? **कल्पनापोढं** शब्दसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना, तयापोढं रहितं निर्विकल्पकमित्यर्थः । अन्यच्चा**भ्रान्तं** भ्रान्तिरहितं रगरगायमाणपरमाणुलक्षणं, स्वलक्षणं हि प्रत्यक्षं, निर्विकल्पकमभ्रान्तं च तद्, घटपटादिबाह्यस्थूलपदार्थ-प्रतिबद्धं च ज्ञानं सविकल्पकम्, तच्च बाह्यस्थूलार्थानां तत्तन्मतानुमानोप-पत्तिभिर्निराकरिष्यमाणत्वात्, नीलाकारपरमाणुस्वरूपस्यैव तात्त्विकत्वात् ।

ननु यदि बाह्यार्था न सन्ति, किंविषयस्तर्ह्ययं घटपटशकटादि-बाह्यस्थूलप्रतिभास इति चेत्; निरालम्बन एवायमनादिवितथवासनाप्रवर्तितो व्यवहाराभासो निर्विषयत्वादाकाशकेशवत्स्वप्नज्ञानवद्वेति । यदुक्तम्—

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥ इति
बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते ।
वासनालुठितं चित्तमर्थाभासे प्रवर्त्तते ॥ इति

इति युक्तम् निर्विकल्पकमभ्रान्तं च प्रत्यक्षम् इति ।

अनुमानलक्षणमाह–**तु** पुनः **त्रिरूपात्** पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपाल्लिङ्गतो धूमादेरुपलक्षणाद्यल्लिङ्गिनो वैश्वानरादे**र्ज्ञानं** तद**नुमानसञ्ज्ञित**मनुमानप्रमाणमित्यर्थः । सूत्रे लक्षणं नान्वेषणीयमिति चरमपादस्य नवाक्षरत्वेऽपि न दोष इति ॥१०॥

(अव०) शब्दसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना तयापोढं रहितं निर्विकल्पकम्, अभ्रान्तं भ्रान्तिरहितम्, रगरगायमाणपरमाणुलक्षणस्वरूपंस्वलक्षणं हि प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्, बाह्यं स्थूलपदार्थगतं ज्ञानं सविकल्पकं भ्रान्तं च । तु पुनः त्रिरूपात् पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपात् लिङ्गतो धूमादेः यत् लिङ्गिनो वैश्वानरादेर्ज्ञानं तदनुमानम् । सूत्रे लक्षणं नेक्षणीयं तेन चरमपादस्य नवाक्षरत्वेऽपि न दोषः ॥१०॥

रूपत्रयमेवाह—

रूपाणि पक्षधर्मत्वं सपक्षे विद्यमानता ।
विपक्षे नास्तिता हेतोरेवं त्रीणि विभाव्यताम् ॥११॥

(सो०) हेतोरनुमानस्य **त्रीणि रूपाणि विभाव्यता**मिति सम्बन्धः । तत्र **पक्षधर्मत्व**मिति साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः । यथा 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वात्' अत्र पर्वतः पक्षः, तत्र धर्मत्वम्, धूमवत्त्वं वह्निमत्त्वेन व्याप्तं धूमोऽग्निं न व्यभिचरतीत्यर्थः । **सपक्षे** सत्त्वमिति यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसप्रदेशः, अत्र धूमवत्त्वेन हेतुना सपक्षे महानसे [विद्यमानता] सत्त्वं वह्निमत्त्वमस्तीत्यर्थः । **विपक्षे नास्तितेति** यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा जलाशये, जलाशये हि वह्निमत्त्वं व्यावर्तमानं व्याप्यं धूमवत्त्वमादाय व्यावर्तते इति **एवं** प्रकारेण **हेतोः** अनुमानस्य **त्रीणि** रूपाणि ज्ञायतामित्यर्थः ॥११॥

(अव०) साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, यथा 'अद्रिरयं वह्निमान् धूमवत्त्वात्' अत्र पर्वतः पक्षः धर्मत्वं वह्निमत्त्वं धूमवत्त्वेन व्याप्तम् । सपक्षे सत्त्वमिति, यो यो धूमवान् स स अग्निमान् यथा महानसः, धूमवत्त्वेन हेतुना सपक्षे महानसे सत्त्वं

वह्निमत्त्वम् । विपक्षे नास्तिता यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा जलाशये वह्निमत्त्वं व्यावर्त्तमानं व्याप्यं धूमवत्त्वमादाय व्यावर्तते ॥११॥

उपसंहरन्नाह—

बौद्धराद्धान्तवाच्यस्य सङ्क्षेपोऽयं निवेदितः ।
नैयायिकमतस्येतः कथ्यमानो निशम्यताम् ॥१२॥

(सो०) अयं सङ्क्षेपो निवेदितः कथितः निष्ठां नीत इत्यर्थः । कस्य ? **बौद्धराद्धान्तवाच्यस्य** बौद्धानां राद्धान्तः सिद्धान्तस्तत्र वाच्योऽभिधातव्योऽर्थस्तस्य । **इतो**ऽनन्तरं **नैयायिकमतस्य** शैवशासनस्य **कथ्यमानो निशम्यतां** सङ्क्षेपः कथ्यमानः श्रूयतामित्यर्थः ॥१२॥

(अव०) अयं सङ्क्षेपो निवेदितः कथितः, बौद्धानां राद्धान्तः सिद्धान्तः यद्वाच्यम्, इतो नैयायिकस्य विशेषशैवशासनस्य ॥१२॥

तदेवाह—

आक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः ।
विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो नित्यबुद्धिसमाश्रयः ॥१३॥

(सो०) आक्षपादा नैयायिकास्तेषां **मते** शासने **देवो** दर्शनाधिष्ठायकः **शिवो** महेश्वरः । स कथम्भूतः ? **सृष्टिसंहारकृत्** सृष्टिः प्राणिनामुत्पत्तिः, संहारस्तद्विनाशः, सृष्टिश्च संहारश्चेति द्वन्द्वः तौ करोतीति क्विपि तोऽन्तः । तथा हि अस्य प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणचराचरस्वरूपस्य जगतः कश्चिदनिर्वचनीयमाहात्म्यः पुरुषः स्रष्टा ज्ञेयः । केवलसृष्टौ च निरन्तरोत्पद्यमानापारप्राणिगणस्य भुवनत्रयेऽप्यमातृत्वमिति संहारकर्तापि कश्चिदभ्युपगन्तव्यः । यत्प्रमाणम् सर्वं धरणिधरणीधरतरुपुरप्राकारादिकं बुद्धिमत्पूर्वकम्, कार्यत्वात्, यद्यत् कार्यं तत्तद्बुद्धिमत्पूर्वकं, यथा घटः, कार्यं चेदम्, तस्माद् बुद्धिमत्पूर्वकमिति प्रयोगः । स च भगवानीश्वर एवेत्यर्थः । व्यतिरेके गगनम् । न चायमसिद्धो हेतुः, भूभूधरादीनां स्वकारणकलापजन्यत्वेनावयवितया वा कार्यत्वस्य जगत्प्रसिद्ध-

त्वात् । नापि विरुद्धानैकान्तिकदोषौ; विपक्षादत्यन्तव्यावृत्तत्वात् । नापि कालात्ययापदिष्टः; प्रत्यक्षानुमानोपमानागमाबाध्यमानधर्मधर्मित्वात् । नापि प्रकरणसमः; तत्परिपन्थिपदार्थस्वरूपसंमर्थनप्रथितप्रत्यनुमानोदयाभावात् । अथ निवृत्तात्मवदशरीरत्वादेव न सम्भवति सृष्टिसंहारकर्तेश्वर इति प्रत्यनुमानोदयात् कथं प्रकरणसमदूषणाभाव इति चेत्; उच्यते; अत्र साध्यमान ईश्वररूपो धर्मी प्रतीतः अप्रतीतो वानुमन्यते सुहृदा । अप्रतीतश्चेत्; भवत्परिकल्पितहेतोरेवाश्रयासिद्धि- दोषप्रसङ्गः । प्रतीतश्चेत्; तर्हि येनैव प्रमाणेन प्रतीतस्तेनैव स्वयमुद्भावितस्वतनुरपि किमर्थं नाभ्युपगम्यत इति कथमशरीरत्वम् । अतो न दुष्टो हेतुरिति साधूक्तं सृष्टिसंहारकृच्छिवः ।

तथा **विभुः** सर्वव्यापकः । एकनियतस्थानवृत्तित्वे ह्यनियतप्रदेशनिष्ठितानां पदार्थानां प्रतिनियतयथावन्निर्माणानुपपत्तेः । न ह्येकस्थानस्थितः कुम्भकारोऽपि दूरदूरतरघटघटनायां व्याप्रियते । तस्माद्विभुर्भगवान् । तथा **नित्यैकः** । नित्यश्चासावेकश्चेति । यतो नित्योऽत एव एकोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम् । भगवतो ह्यनित्यत्वे पराधीनोत्पत्तिसव्यपेक्षतया कृतकत्वप्राप्तिः । स्वोत्पत्तावपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतक इष्यत इति । अथ चेत् कश्चिज्जगत्कर्तारमपरमभिदधाति; स एवानुयुज्यते । सोऽपि नित्योऽनित्यो वा । नित्यश्चेत्; अधिकृतेश्वरेण किमपराद्धम् । अनित्यश्चेत्; तस्याप्यन्येनोत्पादकान्तरेण भाव्यमनित्यत्वादेव तस्याप्यन्येनेति नित्यानित्यवादविकल्पशिल्पशतस्वीकारे कल्पान्तेऽपि न जल्पसमाप्तिः । तस्मान्नित्य एव भगवान् । अन्यच्च, एकोऽद्वितीयो बहूनां हि जगत्कर्तृत्वस्वीकारे परस्परं पृथक् पृथगन्योन्यमसदृशमतिव्यापारतयैकैकपदार्थस्य विसदृशनिर्माणे सर्वमसमञ्जसमापद्येतेति भगवानेक एवेति युक्तियुक्तं नित्यैकेति विशेषणम् ।

तथा **सर्वज्ञ** इति । सर्वपदार्थानां सर्वविशेषज्ञाता । सर्वज्ञत्वाभावे हि विधित्सितपदार्थोपयोग-योग्य-जगत्प्रसृमर-विप्रकीर्ण-परमाणु-कण-प्रचय-सम्यक्सामग्रीमीलनाक्षमतया याथातथ्येन पदार्थनिर्माणरचना दुर्घटा । सर्वज्ञश्च सन् सकलप्राणिनां सम्मीलितसमुचितकारणकलापानुरूपपारिमाण्डल्यानुसारेण कार्यवस्तु निर्मिमाणः स्वार्जितपुण्यपापानुमानेन च स्वर्गनरकयोः सुखदुःखोपभोगं च ददानः केषां नाभिमतः । तथा चोक्तम्—

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ॥ इति

भूयोऽपि विशेषयन्नाह '**नित्यबुद्धिसमाश्रयः**' इति शाश्वतबुद्धिस्थानम् । क्षणिकबुद्धिमतो हि पराधीनकार्यापेक्षितया मुख्यकर्तृत्वाभावादनीश्वरत्व-प्रसक्तिरिति । ईदृग्गुणविशिष्टः शिवो नैयायिकमतेऽभ्युपगन्तव्यः ॥१३॥

(अव०) अक्षपादा नैयायिकाः । सृष्टिः प्राणिनां समुत्पत्तिः, संहारः तद्विनाशः तत्करोतीति । विश्वस्य हि कश्चित् स्रष्टा संहर्ता विज्ञेयः, केवलसृष्टौ च निरन्तरोत्पद्यमानापारप्राणिगणस्य भुवनत्रयेऽप्यमातृत्वमिति प्राणिगणस्यापारत्वात् संहार-कर्तापि कश्चिदभ्युपगन्तव्यः जगतः कार्यत्वाच्च । शिव ईश्वरः । विभुः सर्वव्यापकः । नित्यश्चासौ एकश्चेति, अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं हि नित्यम्, एकोऽद्वितीयः बहूनां घटनायुक्तेः । सर्वज्ञः स सर्वविशेषज्ञानात् शाश्वतबुद्धिस्थानम्, क्षणिकबुद्धित्वे हि पराधीनता ॥१३॥

अथ तत्त्वानि प्ररूपयन्नाह—

तत्त्वानि षोडशामुत्र प्रमाणादीनि तद्यथा ।
प्रमाणं च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनम् ॥१४॥

दृष्टान्तोऽप्यथ सिद्धान्तोऽवयवास्तर्कनिर्णयौ ।
वादो जल्पो वितण्डा च हेत्वाभासाश्छलानि च ॥१५॥

जातयो निग्रहस्थानान्येषामेवं प्ररूपणा ।
अर्थोपलब्धिहेतुः स्यात्प्रमाणं तच्चतुर्विधम् ॥१६॥

(सो०) अमुत्रास्मिन् प्रस्तुते नैयायिकमते **षोडश तत्त्वानि प्रमाणादीनि** प्रमाणप्रभृतीनि । **तद्यथेति** । बालावबोधाय नामान्यप्याह-'प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयससिद्धिः' (न्यायसूत्र १.१.१) इति षोडश । **एषामेवं प्ररूपणेति**-तत्त्वानामेवम् अमुना प्रकारेण

प्ररूपणा नाममात्रप्रकटनमित्यर्थः ।

अथैकैकस्वरूपमाह-तत्रादौ प्रमाणस्वरूपं प्रकटयन्नाह-**अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणं स्यात्** । अर्थस्य पदार्थस्योपलब्धिर्ज्ञानं तस्य हेतुः कारणं प्रमाणं स्याद् भवेत् । परापरदर्शनापेक्षया प्रमाणानामनियतत्त्वात्संदिहानस्य सङ्ख्यामुपदिशन्नाह-**तच्चतुर्विधमिति** । तत्प्रमाणं चतुर्विधं ज्ञेयमिति ॥१४-१६॥

(**अव०**) अत्र नैयायिकमते प्रमाणादीनि षोडशतत्त्वानि यथाक्रमं व्याक्रियमाणानि । नामानि सुगमानि । एवम् अमुना प्रकारेण प्रकटनमर्थस्य पदार्थस्योपलब्धिर्ज्ञानं तस्य हेतुः कारणं प्रमाणं चतुर्विधम् ॥१४-१६॥

प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दमुपमया सह ।
तत्रेन्द्रियार्थसम्पर्कोत्पन्नमव्यभिचारिकम् ॥१७॥

व्यवसायात्मकं ज्ञानं व्यपदेशविवर्जितम् ।
प्रत्यक्षमितरन्मानं तत्पूर्वं त्रिविधं भवेत् ॥१८॥

(**सो०**) प्रमाणनामानि निगदसिद्धान्येव, केवलमुपमया सह इत्युपमानं प्रमाणम् । अथ प्रत्यक्षानुमानस्वरूपमाह-**तत्रेति** ।

तत्र प्रमाणचातुर्विध्ये **प्रत्यक्षं** कीदृगिति सम्बन्धः । विशेषणान्याह-**इन्द्रियार्थसम्पर्कोत्पन्न**मिति । इन्द्रियं चार्थश्चेति द्वन्द्वः, तयो सन्निकर्षात्संयोगादुत्पन्नं जातम् । इन्द्रियं हि नैकट्यात् पदार्थे संयुज्यते । इन्द्रियार्थसंयोगाज्ज्ञानमुत्पद्यते । यदुक्तम्—

आत्मा सहैति मनसा मन इन्द्रियेण,
स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रम एष शीघ्रम् ।
योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति
यस्मिन्मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा ॥

तत्राव्यभिचारिकं ज्ञानान्तरेण नान्यथाभावि । शुक्तिशकले कलधौतबोधो हीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नोऽपि व्यभिचारी दृष्टोऽतोऽव्यभिचारिकं ग्राह्यम् । तथा

व्यवसायात्मकं व्यवहारसाधकम् । सजलधरणितले हि बहलशाड्वलवृक्षा-वल्यामिन्द्रियार्थसान्निध्योद्गतमपि जलज्ञानं तत्प्रदेशसङ्गमेऽपि स्नानपानादिव्य-वहारासाधकत्वादप्रमाणम् । अतः सफलं व्यवसायात्मकमिति विशेषणम् । तथा **व्यपदेशविवर्जित**मिति-व्यपदेशो विपर्ययस्तेन रहितम् । तथाहि-आजन्म-काचकामलादि-दोष-दूषित-चक्षुषः पुरुषस्य धवलशङ्खे पीतज्ञानमुदेति तद्यद्यपि सकलकालं तन्नेत्रदोषाविरामादिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमस्ति तथाप्यन्यवस्तुनो-ऽन्यथाबोधान्न तद्यथोक्तलक्षणं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षसाधकं विशेषणचतुष्टयमुक्तम्।

साम्प्रतमनुमानमाह । **इतरद् अन्य**न्मानमनुमानमुपदिशति **तदनुमानं पूर्वं** प्रथमं **त्रिविधं** त्रिप्रकारकं **भवेज्जायेत** । पूर्वमितिपदेनानुमानान्तरभेदानन्त्यमाह । तत्पूर्वं प्रत्यक्षपूर्वं चेति श्लोकद्वयार्थः ॥१७-१८॥

(अव०) चतुः प्रमाणानां नामानि । अथ प्रत्यक्षानुमानस्वरूपमाह-इन्द्रियं चार्थश्चेति तयोः सन्निकर्षात् संयोगादुत्पन्नम्, इन्द्रियार्थयोर्हि नैकट्यात् संयोगाज्ज्ञानम् । यदुक्तम्—

आत्मा सहैति मनसा मन इन्द्रियेण,
स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रम एष शीघ्रः ।
योगोऽयमेव मनसा किमगम्यमस्ति
यस्मिन् मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा ॥

अव्यभिचारिकं ज्ञानान्तरेण नान्यथाभावि, शुक्तिशकले कलधौतबोधो व्यभिचारी । व्यवसायात्मकं व्यवहारसाधकं सजलधरणितले जलज्ञानं व्यवहारा-साधकत्वादप्रमाणम् । व्यपदेशो विपर्ययस्तेन रहितं । तु पुनरनुमानं तत्पूर्वं प्रत्यक्षपूर्वं त्रिप्रकारम् ॥१७-१८॥

अनुमानत्रैविध्यमाह—

पूर्ववच्छेषवच्चैव दृष्टं सामान्यतस्तथा ।
तत्राद्यं कारणात्कार्यानुमानमिह गीयते ॥१९॥

(सो०) पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं चेत्यनुमानत्रयम् । **चः** समुच्चये । **एवेति** पूरणार्थे । **तथेति** उपदर्शने । **तत्र** त्रिषु मध्ये,

आद्यमनुमानमिह शास्त्रे **कारणात्कार्यानुमानमुदितं** कारणान्मेघात् कार्यं वृष्टिलक्षणं यतो ज्ञायते तत्कारणकार्यं नामानुमानं कथितमित्यर्थः ॥१९॥

(अव०) पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टम् । तत्र त्रिषु मध्ये कारणात् मेघात् कार्यं तद्वृष्टिलक्षणं यतो ज्ञायते तत्कारणकार्यमनुमानं निदर्शनेन द्रढयति ॥१९॥

निदर्शनेन तमेवार्थं द्रढयन्नाह यथा—

रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः ।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवम्प्रायाः पयोमुचः ॥२०॥

(सो०) यथेति दृष्टान्तकथनारम्भे । **रोलम्बाः** भ्रमराः, **गवलं** माहिषं शृङ्गम्, व्याला गजाः, सर्पा वा, तमाला वृक्षविशेषाः, सर्वेऽप्यमी कृष्णाः पदार्थाः स्वभावतो ज्ञेयाः । द्वन्द्वसमासो बहुव्रीहिश्च । **एवम्प्राया** एवंविधाः **पयोमुचो** मेघा **वृष्टिं न व्यभिचरन्तीति** । एवम्प्राया इत्युपलक्षणेन परेऽपि वृष्टिहेतवोऽभ्युन्नत्यादि विशेषा ज्ञेयाः । यदुक्तम्—

गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः ।
तुङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः ॥ [न्यायमञ्जरी]
इत्यादयोऽपि वृष्टिं न व्यभिचरन्ति ॥२०॥

(अव०) रोलम्बा भ्रमराः, गवलं माहिषं शृङ्गम्, व्यालाः गजाः सर्पा वा, तमाला वृक्षाः, मलिना अर्थात् कृष्णा त्विट् येषाम् । एवम्प्राया इत्युपलक्षणेन परेऽत्युन्नतत्वगर्जितत्वादयो विशेषा ज्ञेयाः ॥२०॥

शेषवन्नामधेयं द्वितीयमनुमानभेदमाह—

कार्यात्कारणानुमानं यच्च तच्छेषवन्मतम् ।
तथाविधनदीपूरान्मेघो वृष्टो यथोपरि ॥२१॥

(सो०) यत्कार्यात् फलात्**कारणानुमानं** फलोत्पत्तिहेतुपदार्थावगमनं

तच्छेषवदनुमानं **मतं** कथितं नैयायिकशासने । यथा **तथाविधनदीपूरादुपरि मेघो वृष्ट**स्तथाविधप्रवहत्सलिलसम्भारभरितो यो नदीपूरः सरित्प्रवाहस्तस्मादुपरि शिखरिशिखरोपरि जलधराभिवर्षणज्ञानं तच्छेषवत् । अत्र कार्यं नदीपूरः कारणं च पर्वतोपरि मेघो वृष्ट इति । उक्तञ्च नैयायिकैः—

आवर्तवर्तनाशालिविशालकलुषोदकः ।
कल्लोलविकटास्फालस्फुटफेनच्छटाङ्कितः ॥
वहद्बहुलशेवालफलशाड्वलसङ्कुलः ।
नदीपूरविशेषोऽपि शक्यते न निवेदितुम् ॥२१॥ इति

(अव०) यच्च कार्यात्फलात् कारणानुमानं फलोत्पत्तिहेतुपदार्थावगमनं तच्छेषवत् । यथाविधप्रवहत्सलिलनदीपूरात् उपरिशिखरिशिखरोपरि जलाभिवर्षण-ज्ञानम् ॥२१॥

तृतीयानुमानमाह—

यच्च सामान्यतो दृष्टं तदेवं गतिपूर्विका ।
पुंसि देशान्तरप्राप्तिर्यथा सूर्येऽपि सा तथा ॥२२॥

(सो०) चः पुनरर्थे । **यत् सामान्यतो दृष्ट**मनुमानं **तदेव**ममुना वक्ष्यमाणप्रकारेण । यथा **पुंसि** पुरुषे देवदत्तादौ **देशान्तरप्राप्तिर्गतिपूर्विका** । एकस्माद्देशाद्देशान्तरगमनं गमनपूर्वकमित्यर्थः । यथोज्जयिन्याः प्रस्थितो देवदत्तो माहिष्मतीं पुरीं प्राप्तः । **सूर्येऽपि सा तथे**ति, यथा पुंसि तथा सूर्यऽपि सा गतिरभ्युपगम्यते । यद्यपि गगने सञ्चरतः सूर्येस्य नेत्रावलोकप्रसरणाभावेन गतिर्नोपलभ्यते, तथाप्युदयाचलात् सायमस्ताचलचूलिकावलम्बनं गतिं सूचयति । एवं सामान्यतो दृष्टमनुमानं ज्ञेयमित्यर्थः ॥२२॥

(अव०) चः पुनरर्थे । सामान्यतो दृष्टं तदनुमानं यथा पुंसि देवदत्तादौ देशान्तरत्वाप्तिर्गतिपूर्विका दृष्टा यथा उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मतीं प्राप्तः । तथा सूर्यस्य उदयाचलात् सायमस्ताचलगमनं ज्ञापयति ॥२२॥

अथ क्रमायातमपि शाब्दप्रमाणं स्वल्पवक्तव्यत्वादुपेक्ष्यादावुपमानलक्षणमाह—

प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ।
उपमानं तदाख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा ॥२३॥

(सो०) तदुच्यमान**मुपमानमाख्यातं** कथितम् । यत्तदोर्नित्य सम्बन्धात् । यत्किञ्चिद् **अप्रसिद्धस्य साधनम्** अज्ञायमानस्यार्थस्य ज्ञापनं क्रियते । **प्रसिद्धधर्मसाधर्म्यादिति**-प्रसिद्धः आबालगोपालाङ्गनाविदितोऽसौ धर्मोऽसाधारणलक्षणं तस्य साधर्म्यं-समानधर्मत्वं तस्मादित्युपमानमाख्यातम् । दृष्टान्तमाह-**यथा गौर्गवयस्तथेति**-यथा कश्चिदरण्यवासी नागरिकेण कीदृग्गवय ? इति पृष्टः, स च परिचितगोगवयलक्षणो नागरिकं प्राह-'यथा गौस्तथा गवयः', खुरककुदलाङ्गूलसास्नादिमान् यादृशो गौस्तथा जन्मसिद्धो गवयोऽपि ज्ञेय इत्यर्थः । अत्र प्रसिद्धो गौस्तत्साधर्म्यादप्रसिद्धस्य गवयस्य साधनमिति ॥२३॥

(अव०) क्रमागतमपि शाब्दप्रमाणमुपेक्ष्य उपमानमाह-**प्रसिद्धेति** । तदुपमानं यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् । यत्किञ्चिद् अप्रसिद्धस्य अज्ञायमानस्य अर्थस्य ज्ञापनं प्रसिद्धधर्मसाधर्म्यादाबालगोपालाङ्गनाविदितात् क्रियते । साधर्म्यं समानधर्मत्वम् । यथा अरण्यवासी चिरपरिचितगोगवयलक्षणो नागरिकेण गावा लक्षणवता पृष्टो दृष्टान्तमदात् ॥२३॥

उपमानं व्यावर्ण्य शाब्दप्रमाणमाह—

शाब्दमाप्तोपदेशस्तु मानमेवं चतुर्विधम् ।
प्रमेयं त्वात्मदेहार्थबुद्धीन्द्रियसुखादि च ॥२४॥

(सो०) तु पुनराप्तोपदेशः **शाब्दम्** । अवितथवादी हित**श्चाप्तः** प्रत्ययितजनस्तस्य य **उपदेश** आदेशवाक्यं **तच्छाब्दम्** आगमप्रमाणं ज्ञेयमिति । **एवमुक्तभङ्ग्या मानं** प्रमाणं **चतुर्विधं** चतुष्प्रकारं निष्ठितमित्यर्थः ।

अथ प्रमेयलक्षणमाह- **'प्रमेयं त्वात्मदेहार्थबुद्धीन्द्रियसुखादि चेति'**

प्रमाणग्राह्योऽर्थः प्रमेयं, तुः पुनरर्थे । आत्मा च देहश्चेति द्वन्द्वः । आदिशब्देन शेषाणामपि षण्णां प्रमेयार्थानां सङ्ग्रहः तच्च नैयायिकसूत्रे आत्मशरीरेन्द्रियार्थ-बुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गभेदेन द्वादशविधम् । तत्र सचेतनत्व-कर्तृत्वसर्वगतत्वादिधर्मैरात्मा प्रमीयते । एवं देहादयोऽपि प्रमेयतया ज्ञेयाः । अत्र तु ग्रन्थविस्तारभयान्न प्रपञ्चिता इतरग्रन्थेभ्योऽपि सुज्ञेयत्वाच्चेति ॥२४॥

(अव०) तुः पुनः । आप्तोऽवितथवादी हितश्च यो जनस्तस्य तथ्यो हितोपदेशो देशनावाक्यं तच्छब्दमागमप्रमाणम् । अथ प्रमाणलक्षणमाह-प्रमाणग्राह्योऽर्थः प्रमेयम् । तुः पुनरर्थे । आत्मा च देहश्चेति द्वन्द्वः । आदिशब्देन षण्णां प्रमेयार्थानां परिग्रहः । तत्र सचेतनत्वकर्तृत्वसर्वगतत्वादिना आत्मा अनुमीयते, एवं देहादयः, अत्र तु ग्रन्थविस्तरभिया न प्रपञ्चिताः ॥२४॥

संशयादिस्वरूपमाह—

किमेतदिति सन्दिग्धः प्रत्ययः संशयो मतः ।
प्रवर्तते यदर्थित्वात्तत्तु साध्यं प्रयोजनम् ॥२५॥

(सो०) दूरावलोकनेन पदार्थपरिच्छेदकधर्मेषु संशयानः प्राह-**किमेतदिति** । एतत्किं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति यः **सन्दिग्धः प्रत्ययः** स **संशयो** नाम तत्त्वविशेषो **मतः** सम्मतः तच्छासन इति । प्रयोजनमाह-**तत्तु** तत्पुनः **प्रयोजनं** नाम तत्त्वं **यत्** किमित्याह-**अर्थित्वा**त्प्राणी **साध्यं** कार्यं प्रति **प्रवर्तते** । प्रतीत्यध्याहार्यम् । 'न हि निष्फलकार्यारम्भ' इत्यर्थित्वादुक्तम् । एवं यत्प्रवर्तनं तत्प्रयोजनमित्यर्थः ॥२५॥

(अव०) संशयादिस्वरूपमाह । दूरावलोकनेन पदार्थपरिच्छेदकधर्मेषु किमेतदिति सन्देहोऽयंः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशयः । अर्थित्वात्प्राणी साध्यं कार्यं प्रति प्रवर्त्तते प्रतीत्यध्याहार्यम् । न हि निष्फलः कार्यारम्भ इति ॥२५॥

दृष्टान्तस्तु भवेदेष विवादविषयो न यः ।
सिद्धान्तस्तु चतुर्भेदः सर्वतन्त्रादिभेदतः ॥२६॥

(सो०) तु पुनरेष दृष्टान्तो नाम तत्त्वं **भवेत्** । यत्किमिति ? **विवादविषयो न यः** यस्मिन्नुपन्यस्ते वचने वादगोचरो न भवति । इदमित्थं भवति न वेति विवादो न भवतीत्यर्थः । तावच्चान्वयव्यतिरेकयुक्तोऽर्थः स्खलति यावन्न स्पष्टं दृष्टान्तोपष्टम्भः । उक्तञ्च—

तावदेव चलत्यर्थो मन्तुर्गोचरमागतः ।
यावन्नोत्तम्भनेनैव दृष्टान्तेनावलम्ब्यते ॥

एष दृष्टान्तो ज्ञेयः ।

सिद्धान्तः पुनश्चतुर्भेदो भवेत् । कथम् ? इत्याह-**सर्वतन्त्रादिभेदत** इति । सर्वतन्त्रसिद्धान्त इति प्रथमो भेदः । आदिशब्दाद् भेदत्रयमिदं ज्ञेयम् । यथा प्रतितन्त्रसिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्तश्चेति । अमी चत्वारः सिद्धान्तभेदाः, नाममात्रकथनमिदम्, विस्तरग्रन्थेभ्यस्तु विशेषो ज्ञेयः ॥२६॥

(अव०) यस्मिन्नुपन्यस्ते वचने वादगोचरो न भवति उभयसम्मतत्वात् । उक्तञ्च—

तावदेव चलत्यर्थो मन्तुर्विषयमागतः ।
यावन्नोत्तम्भनेनैव दृष्टान्तो नावलम्ब्यते ॥

एष दृष्टान्तः । सिद्धान्तः पुनश्चतुर्धा-सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्र-अधिकरण-अभ्युपगम-भेदात् । विशेषार्थो विस्तरग्रन्थादवसेयो नाममात्रकथनम् ॥२६॥

अवयवादितत्त्वत्रयस्वरूपमाह—

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनया निगमस्तथा ।
अवयवाः पञ्च तर्कः संशयोपरमो भवेत् ॥२७॥

यथा काकादिसम्पातात् स्थाणुना भाव्यमत्र हि ।
ऊर्ध्वं सन्देहतर्काभ्यां प्रत्ययो निर्णयो मतः ॥२८॥

(सो०) अवयवाः पञ्चेति सम्बन्धः । पूर्वार्द्धमाह-**प्रतिज्ञाहेतु-**

दृष्टान्तोपनया निगमनं चेति पञ्चावयवाः । तत्र प्रतिज्ञा पक्षः, कृशानुमानयं सानुमानित्यादि । हेतुर्लिङ्गवचनम्, धूमवत्त्वादित्यादि । दृष्टान्त उदाहरणवचनम्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसप्रदेश इत्यादि । उपनयो हेतोरुपसंहारकं वचनम्, धूमवांश्चायमित्यादि । निगमनं हेतूपदेशेन पुनः साध्यधर्मोपसंहरणं तस्माद्वह्निमानित्यादि । इति पञ्चावयवस्वरूपनिरूपणम्, इति अवयवतत्त्वं ज्ञेयमिति । **तर्कः संशयोपरमो भवेत् । यथा काके**त्यादि । दूराद्-दृग्गोचरे स्पष्टप्रतिभासाभावात् किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संशय-स्तस्योपरमेऽभावे सति तर्को भवेत् तर्को नाम तत्त्वं स्यात् । कथम् ? इत्याह-**यथेति** । दूरादूर्ध्वस्थं पदार्थं विलोक्य स्थाणुपुरुषयोः सन्दिहानोऽवहितीभूय विमृशति । **काकादिसंपाता**दादिशब्दाद्वल्ल्युत्सर्पणादयः स्थाणुधर्मा ग्राह्याः । वायसप्रभृत्तिसम्बन्धादत्र **स्थाणुना भाव्यं** कीलकेन भवितव्यम् । पुरुषे हि शिरःकम्पनहस्तचालनादिभिः काकपातानुपपत्तेः । एवं संशयाभावे तर्कतत्त्वं ज्ञेयमिति । **ऊर्ध्व**मित्यादि पूर्वोक्तलक्षणाभ्यां **सन्देहतर्काभ्या**मूर्ध्वमुत्तरं यः **प्रत्ययः**, स्थाणुरेवायं पुरुष एवायमिति प्रतीतिविषयः, स **निर्णयः** निर्णयनामा तत्त्वविशेषो ज्ञेयः । यत्तदावर्थसम्बन्धादनुक्तावपि ज्ञेयौ ॥२७-२८॥

(अव०) प्रतिज्ञा पक्षः, वह्निमानयं सानुमान् । हेतुर्लिङ्गवचनं, धूमवत्त्वात् । दृष्टान्त उदाहरणम्, यथा महानसमिति । उपनयो हेतोरुपसंहारकं वचनम्, धूमवांश्चायम् । निगमनं हेतूपदेशेन पुनः साधर्म्योपसंहरणम्, तस्माद् वह्निमान् पर्वत इत्यादि पञ्चावयवस्वरूपनिरूपणमवयवतत्त्वं ज्ञेयमिति । दूराद् दृग्गोचरे स्पष्टप्रतिभासाभावात् 'किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति संशयः, तदुपरमे काकादिपतनावलोकनेन आदि-शब्दात् स्थाणुधर्मो ग्राह्यः, अत्र कीलकेन भाव्यम्, पुरुषस्य शिरःकम्पनहस्तचालनादि-भावात् । स्थाणुरेवायं पुरुष एवायमिति यः प्रतीतिविषयः स निर्णयः ॥२७-२८॥

वादतत्त्वमाह—

आचार्यशिष्ययोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात् ।
यः कथाभ्यासहेतुः स्यादसौ वाद उदाहृतः ॥२९॥

(सो०) असौ वाद उदाहृतः कथितस्तज्ज्ञैरित्यर्थः । **यः** कः ?

इत्याह-**कथाभ्यासहेतुः** । कथा प्रामाणिकी तस्या अभ्यासे हेतुः कारणम् । कयोः ? **आचार्यशिष्ययोः** आचार्यो गुरुरध्यापकः, शिष्यश्चाध्येता विनेय इति । कस्मात् ? **पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहात्** । पक्षः पूर्वपक्षः प्रतिज्ञादिसङ्ग्रहः प्रतिपक्ष उत्तरपक्षः पूर्वपक्षवादिप्रयुक्तप्रतिज्ञादिप्रतिपन्थिकोपन्यासप्रौढिः तयोः परिग्रहात्सङ्ग्रहादित्यर्थः । आचार्यः पूर्वपक्षमङ्गीकृत्याचष्टे शिष्यश्चोतरपक्षमुररीकृत्य पूर्वपक्षं खण्डयति । एवं निग्राहकजयपराजयच्छलजात्यादिनिरपेक्षतया अभ्यासनिमित्तं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण यत्र गुरुशिष्यौ गोष्ठीं कुरुतः स वादो ज्ञेयः ॥२९॥

(अव०) कथा प्रामाणिकी तस्या अभ्यासकारणं यः स वादः पक्षः प्रतिज्ञा प्रतिपक्षः प्रतिज्ञोपन्यासप्रतिपन्थी तयोः सङ्ग्रहात्, निग्राहकजयपराजयानपेक्षगुरुविनेययोः ॥२९॥

अथ तद्विशेषमाह—

विजिगीषुकथायां तु छलजात्यादिदूषणम् ।
स जल्पः सा वितण्डा तु या प्रतिपक्षविवर्जिता ॥३०॥

(सो०) स जल्प इति सम्बन्धः । यत्तु **विजिगीषुकथायां** विजयाभिलाषिवादिप्रतिवादिप्रारब्धप्रमाणोपन्यासगोष्ठ्यां सत्यां **छलजात्यादिदूषणम्** । छलं त्रिप्रकारम्-वाक्छलं, सामान्यच्छलम्, उपचारच्छलं चेति, जातयश्चतुर्विंशतिभेदाः, आदिशब्दान्निग्रहस्थानादिपरिग्रहः, एतैः कृत्वा दूषणं परोपन्यस्तपक्षादेर्दूषणजालमुत्पाद्य निराकरणम् । अभिमतं च स्वपक्षस्थापनेन सन्मार्गप्रतिपत्तिनिमित्ततया छलजात्याद्युपन्यासैः परप्रयोगस्य दूषणोत्पादनम् । तथा चोक्तम्—

दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः ।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डादोषमण्डिताः ॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।
मा गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः ॥ [न्यायमञ्जरी प्रमा०]

इति सङ्कटे प्रस्तावे च सति छलादिभिरपि स्वपक्षस्थापनमनुमतम् । परविजये हि धर्मध्वंसादिदोषसम्भवस्तस्माद्वरं छलादिभिरपि जयः । **सा वितण्डा तु या प्रतिपक्षविवर्जिता** । सा पुनर्वितण्डा, या किम् ? विजिगीषुकथेव प्रतिपक्षविवर्जिता । वादिप्रयुक्तपक्षतिरोधकः प्रतिवाद्युपन्यासः प्रतिपक्षस्तेन विवर्जिता रहितेति प्रतिपक्षसाधनविहीनो वितण्डावादः । वैतण्डिको हि स्वाभ्युपगतपक्षमस्थापयन् यत्किञ्चिद्वादेन परोक्तमेव दूषयतीत्यर्थः ॥३०॥

(अव०) विजयाभिलाषिणो वादिनः प्रतिवादिनश्च प्रारब्धप्रमाणोपन्यासगोष्ठी छलं त्रिधा-वाक्छलम्, सामान्यछलम्, उपचारछलम् । जातयः २४ भेदाः । आदिशब्दात् निग्रहस्थानानि । एतैः कृत्वा परपक्षनिराकरणं दूषणोत्पादने स्वमतस्थापनेन स जल्पः । सा वितण्डा, या वादिप्रयुक्तपक्षप्रतिरोधकप्रतिवादिन्यस्तप्रतिपक्षरहिता ॥३०॥

हेत्वाभासा असिद्धाद्याश्छलं कूपो नवोदकः ।
जातयो दूषणाभासाः पक्षादिर्दूष्यते न यैः ॥३१॥

(सो०) हेत्वाभासा ज्ञेया इति । के ते ? इत्याह-**असिद्धाद्याः**, असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः पञ्च हेत्वाभासा ज्ञेयाः । तत्र पक्षे धर्मत्वं यस्य नास्ति सोऽसिद्धः । विपक्षे सन् सपक्षे चासन् विरुद्धः । पक्षत्रयवृत्तिरनैकान्तिकः । प्रत्यक्षानुमानागमविरुद्धपक्षवृत्तिः कालात्ययापदिष्टः । विशेषाग्रहणे हेतुत्वेन प्रयुज्यमानः प्रकरणसमः । उदाहरणानि स्वयमभ्यूह्यानि ।

छलं कूपो नवोदक इति । परोपन्यस्तवादे स्वाभिमतार्थान्तरकल्पनया वचनविघातश्छलम् । कथम् ? इत्याह-वादिना कूपो नवोदक इति कथायां प्रत्यग्रार्थवाचकतया नवशब्दप्रयोगे छलवादी नवसङ्ख्यामारोप्य दूषयति । कुत एक एव कूपो नवसङ्ख्योदक इति वाक्छलम् । प्रस्तावागतत्वेन शेषच्छलद्वयमप्याह-सम्भावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यच्छलम् । यथा 'अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न' इति । ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति-सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति ।

तच्छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुत्वमारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते । यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पद्भवति व्रात्येऽपि[१] सा भवेद्, व्रात्योऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम्, उपचारच्छलम् । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति, मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीति छलत्रयस्वरूपं ज्ञेयमिति ॥

जातय इत्यादि । **दूषणाभासा** जातयः । अदूषणान्यपि दूषणवदाभासन्त इति दूषणाभासाः । **यैः** किम् ? **पक्षादिर्न दूष्यते**, आभासमात्रत्वान्न पक्षदोषः समुद्भावयितुं शक्यते केवलं सम्यग्हेतौ हेत्वाभासे वा वादिना प्रयुक्ते झगिति तद्दोषतत्त्वानवभासे हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं किमपि प्रत्यवस्थानं जातिः । सा चतुर्विंशतिभेदा साधर्म्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन । यथा साधर्म्य-वैधर्म्य-उत्कर्ष-अपकर्ष-वर्ण्य-अवर्ण्य-विकल्प-साध्य-प्राप्ति-अप्राप्ति-प्रसङ्ग-प्रतिदृष्टान्त-अनुत्पत्ति-संशय-प्रकरण-अहेतु-अर्थापत्ति-अविशेष-उपपत्ति-उपलब्धि-अनुपलब्धि-नित्य-अनित्य-कार्यसमाः ।

तत्र साधर्म्येन प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमा जातिर्भवति । 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, घटवत्' इति प्रयोगे कृते साधर्म्यप्रयोगेणैव प्रत्यवस्थानम्-नित्यः शब्दो निरवयवत्वात्, आकाशवत् । न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् कृतकत्वाद् अनित्यः शब्दः, न पुनः आकाशसाधर्म्यान्निरवयवत्वात् नित्य इति (१) ।

वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं वैधर्म्यसमा जातिर्भवति अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, घटवत् इत्यत्रैव प्रयोगे स एव हेतुर्वैधर्म्येण प्रयुज्यते नित्यः शब्दो निरवयवत्वात्, अनित्यं हि सावयवं दृष्टं घटादीति । न चास्ति विशेषहेतुः घटसाधर्म्यात् कृतकत्वाद् अनित्यः शब्दः न पुनस्तद्वैधर्म्यात् निरवयवत्वान्नित्य इति (२) ।

उत्कर्षापकर्षाभ्यां प्रत्यवस्थानमुत्कर्षापकर्षसमे जाती भवतः । तत्रैव प्रयोगे दृष्टान्तधर्मं कञ्चित्साध्यधर्मिण्यापादयन्नुत्कर्षसमां जातिं प्रयुङ्क्ते । यदि घटवत्कृतकत्वादनित्यः शब्दो घटवदेव मूर्तोऽपि भवेद्, न चेन्मूर्तो घटवदनित्यो-

---

१. व्रात्यः = संस्कारवर्जितो द्विजः ।

ऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति (३) ।

(अपकर्षस्तु घटः कृतकः सन्नश्रावणो दृष्टः एवं शब्दोऽपि भवेद्, नो चेद् मूर्तो घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे धर्मान्तरोत्कर्षमापादयति) ।

अपकर्षस्तु घट कृतकः सन्नश्रावणो दृष्टः एवं शब्दोऽपि भवेत् । नो चेद् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे श्रावणत्वं धर्ममपकर्षति (४) ।

वर्ण्यावर्ण्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्ण्यावर्ण्यसमे जाती भवतः । ख्यापनीयो वर्ण्यस्तद्विपरीतोऽवर्ण्यस्तावेतौ वर्ण्यावर्ण्यौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यन् वर्ण्या-वर्ण्यसमे जाती प्रयुङ्क्ते । यथाविधः शब्दधर्मः कृतकत्वादि न तादृग् घटधर्मो, न यादृग् घटधर्मो न तादृक् शब्दधर्म इति साध्यधर्मदृष्टान्तधर्मौ हि तुल्यौ कर्तव्यौ । अत्र तु विपर्यासः, यतो यादृग्घटधर्मः कृतकत्वादि न तादृक् शब्दधर्मः । घटस्य ह्यन्यादृशं कुम्भकारादिजन्यं कृतकत्वम्, शब्दस्य हि ताल्वोष्ठादिव्यापारजमिति (५-६) ।

धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः । यथा कृतकं किञ्चिन्मृदु दृष्टं राङ्कव[1]शय्यादि, किञ्चित्कठोरं कुठारादि, एवं कृतकं किञ्चिदनित्यं भविष्यति घटादिकम् । किञ्चिन्नित्यं शब्दादीति (७) ।

साध्यं साम्यापादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा जातिः । यथा - कृतकः यदि यथा घटः तथा शब्दः प्राप्तः तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति । शब्दश्च साध्य इति घटोऽपि साध्यो भवेत्, ततश्च न साध्यं साध्यस्य दृष्टान्तः स्यात् । न चेदेवं तथापि वैलक्षण्यात् सुतरामदृष्टान्त इति (८) ।

प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती । यथा यदेतत्कृतकत्वं त्वया साधनमुपन्यस्तं तत्किं प्राप्य साधयत्यप्राप्य वा । प्राप्य चेद् द्वयोर्विद्यमानयोरेव प्राप्तिर्भवति न तत्सदसतोरिति, द्वयोश्च सत्त्वात्किं कस्य साध्यं साधनं वा । अप्राप्य तु साधनमयुक्तम्, अतिप्रसङ्गादिति (९-१०) ।

अतिप्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह-यद्यनित्यत्वे कृतकत्वं साधनं कृतकत्वे इदानीं किं साधनं तत्साधने किं साधनमिति (११) ।

---

१. राङ्कवं = मृगरोमजम् ।

प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते जातिवाद्याह-यथा घटः प्रयत्नानन्तरीयकोऽनित्यो दृष्ट एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं दृष्टं कूपखननप्रयत्नानन्तरमुपलम्भादिति । न चेदमनैकान्तिकत्वोद्भावनं भङ्ग्यन्तरेण प्रत्यवस्थानात् (१२) ।

अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानम् अनुत्पत्तिसमा जातिः । यथानुत्पन्ने शब्दाख्ये धर्मिणि कृतकत्वं धर्मः क्व वर्तते ? तदेवं हेत्वभावादसिद्धिरनित्यत्वस्येति (१३) ।

साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा या जातिर्यथा पूर्वमुदाहृता, सैव संशयेनोपसंह्रियमाणा संशयसमा जातिर्भवति । यथा किं घटसाधर्म्यात्कृतकत्वाद-नित्यः शब्दः, किं वा तद्वैधर्म्येणाकाशसाधर्म्यान्निरवयवत्वान्नित्य ? इति (१४)।

द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्ध्या प्रयुज्यमाना सैव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा जातिः प्रकरणसमा भवति । तत्रैवानित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवदिति प्रयोगे नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति, उद्भावनप्रकारभेदमात्रे सति नानात्वं द्रष्टव्यम् (१५) ।

त्रैकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थापनमहेतुसमा जातिः । यथा हेतुः साधनम्, तत्साध्यात्पूर्वं पश्चाद्वा सह वा भवेत् । यदि पूर्वम्, असति साध्ये तत्कस्य साधनम् ? अथ पश्चात्साधनम्, पूर्वं तर्हि साध्यं, तस्मिंश्च पूर्वसिद्धे किं साधनेन ? अथ युगपत्साध्यसाधने; तर्हि तयोः सव्येतरगोविषाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न भवेदिति (१६) ।

अर्थापत्त्या प्रत्यवस्थानम् अर्थापत्तिसमा जातिः । यथा- यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दोऽर्थादापद्यते, नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति । अस्ति चास्य नित्येनाकाशेन साधर्म्यं निरवयवत्वमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायमिति (१७) ।

अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा जातिः । यथा यदि शब्दघटयोरेको धर्मः कृतकत्वमिष्यते तर्हि समानधर्मयोगात्तयोरविशेषे तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेषः प्रसज्यत इति (१८) ।

उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमा जातिः । यथा यदि कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्यानित्यत्वं निरवयवत्वोपपत्त्या नित्यत्वमपि कस्मान्न भवति ? पक्षद्वयोपपत्त्या अनध्यवसायपर्यवसानत्वं विवक्षितमित्युद्भावनप्रकारभेद एवायम् (१९) ।

उपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति प्रयुक्ते प्रत्यवतिष्ठते न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनम्, साधनं तदुच्यते येन विना न साध्यमुपलभ्यते, उपलभ्यते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनापि विद्युदादावनित्यत्वम्, शब्देऽपि क्वचिद्वायुवेगभज्यमानवनस्पत्यादिजन्ये तथेति (२०) ।

अनुपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमनुपलब्धिसमा जातिः । यथा तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतावुपन्यस्ते सत्याह जातिवादी न प्रयत्नकार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येवासौ, आवरणयोगात्तु नोपलभ्यते । आवरणानुपलम्भेऽप्यनुप-लम्भान्नास्त्येव शब्द इति चेत्, न, आवरणानुपलम्भेऽप्यनुपलम्भसद्भावादा-वरणानुपलब्धेश्चानुपलम्भादभावः, तदभावे चावरणोपलब्धेर्भावो भवति । ततश्च मृदन्तरितमूलकीलोदकादिवदावरणोपलब्धिकृतमेव शब्दस्य प्रागुच्चारणादग्रहण-मिति प्रयत्नकार्याभावान्नित्यः शब्द इति[१] (२१) ।

साध्यधर्मनित्यानित्यत्वविकल्पेन शब्दनित्यतापादनं नित्यसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते जातिवादी विकल्पयति येयमनित्यता शब्दस्योच्यते सा किमनित्या नित्या वेति । यद्यनित्या; तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यताया अभावान्नित्यः शब्दः । अथ अनित्यता नित्यैवेति तथापि धर्मस्य नित्यत्वात्तस्य च निराश्रितस्यानुपपत्तेः तदाश्रयभूतः शब्दोऽपि नित्य एव भवेत् । स चेन्न; तदनित्यत्वे तद्धर्मनित्यत्वायोगादित्युभयथापि नित्यः शब्द इति (२२) ।

एवं सर्वभावानित्यत्वोपपादने प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिः । यथा घटसाधर्म्यमनित्यत्वेन शब्दस्यास्तीति तस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते तद् घटेन सर्वपदार्थानामस्त्येव किमपि साधर्म्यमिति तेषामप्यनित्यत्वं स्यात् । अथ पदार्था-

---

१. बृहद्वृत्तौ स्पष्टोऽयं पदार्थः ।

न्तराणां तथाभावेऽपि नानित्यत्वं तर्हि शब्दस्यापि तन्मा भूदिति अनित्यत्व-मात्रापादनपूर्वकविशेषोद्भावनाच्चाविशेषसमातो भिन्नेयं जातिः (२३)।

प्रयत्नकार्यनानात्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा जातिः । यथानित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्युक्ते जातिवाद्याह-प्रयत्नस्य द्वैरूप्यं दृष्टं किञ्चिदसदेव तेन जन्यते यथा घटादिकम्, किञ्चित्सदेवावरणव्युदासादिना अभिव्यजते यथा मृदन्तरितमूलकीलादि । एवं प्रयत्नकार्यनानात्वादेष प्रयत्नेन शब्दो व्यज्यते जन्यते वेति संशय इति संशयापादानप्रकारभेदाच्च संशयसमातः कार्यसमा जातिर्भिद्यते (२४) ।

तदेवमुद्भावनविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्त्ये सङ्कीर्णोदाहरणविवक्षया चतुर्विंशतिजातिभेदा एते दर्शिता इति ॥३१॥

(अव०) हेतुरूपवदाभासन्ते हेत्वाभासाः पञ्च । पक्षे धर्मत्वं नास्ति सोऽसिद्धः । विपक्षे सन् सपक्षे चासन् विरुद्धः । पक्षत्रयवृत्तिरनैकान्तिकः । प्रत्यक्षागमविरोधः कालात्ययापदिष्टः । विशेषाग्रहणं हेतुत्वेन प्रयुज्यमानं प्रकरणसमः । परोपन्यस्तवादे स्वाभिमतकल्पनया वचनविघातः छलम् । नवोदकः प्रत्यग्रोदकः नवसङ्ख्यामारोप्य दूषयति । मञ्चाः क्रोशन्तीति छलम् । अदूषणान्यपि दूषणवदाभासन्ते आभासमात्रत्वादेव पक्षं न दूषयन्ति जातयः साधर्म्यादि । 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्' वादिनेत्युक्ते प्रतिवाद्याह- 'नित्यः शब्दो निरवयवत्वादाकाशवत्' न चात्र हेतुः घटवदनित्यत्वे आकाशवन्नित्यत्वे नित्यत्वेऽप्याकाशवद् वास्ति ॥३१॥

दूषणाभासानुक्त्वा निग्रहस्थानमाह—

निग्रहस्थानमाख्यातं परो येन निगृह्यते ।
प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेदवत् ॥३२॥

(सो०) येन केनचिद् रूपेण **परो** विपक्षो **निगृह्यते** परवादी वचननिग्रहे पात्यते **तन्निग्रहस्थानमाख्यातं** कथितमिति । कतिचिद्भेदान् नामतो निर्दिशन्नाह-**प्रतिज्ञाहानिसंन्यासविरोधादिविभेदवत्** । हानिसंन्यासविरोधाः प्रतिज्ञाशब्देन सम्बध्यन्ते, आदिशब्देन शेषानपि भेदान् परामृशति । एतद्दूषणजालमुत्पाद्यते येन तन्निग्रहस्थानम् । यदुक्तं-"**विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च**

निग्रहस्थानम्" [न्यायसूत्रम् १.२.१९] तत्र विप्रतिपत्तिः साधनाभासे साधनबुद्धिः दूषणाभासे च दूषणबुद्धिरिति । अप्रतिपत्तिः साधनस्यादूषणं दूषणस्य चानुद्धरणम् ।

तद्धि निग्रहस्थानं द्वाविंशतिभेदम् । तद्यथा-प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरं, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरम्, निरर्थकम्, अविज्ञातार्थम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालम्, न्यूनम्, अधिकम्, पुनरुक्तम्, अननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासश्च ।

तत्र हेतावनैकान्तिकीकृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिर्नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः, ऐन्द्रियिकत्वाद् घटवदिति प्रतिज्ञासाधनाय वादी वदन् परेण सामान्यमैन्द्रियिकमपि नित्यं दृष्टमिति हेतावनैकान्तिकी कृते यद्येवं ब्रूयात् सामान्यवत् घटोऽपि नित्यो भवति, स एवं ब्रुवाणः शब्दानित्यत्वप्रतिज्ञां जह्यात् (१) ।

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मान्तरसाधनमभिदधतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्द ऐन्द्रियिकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनैव व्यभिचारे नोदिते यदि ब्रूयाद् युक्तं सामान्यमैन्द्रियिकं नित्यं तद्धि सर्वगतमसर्वगतस्तु शब्द इति, सोऽयमनित्यः शब्द इति पूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञान्तरमसर्वगतः शब्द इति प्रतिज्ञान्तरेण निगृहीतो भवति (२) ।

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधो नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति, सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधो यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं कथं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः, अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति तदयं प्रतिज्ञा विरुद्धाभिधानात्पराजीयते (३) ।

पक्षसाधने परेण दूषिते तदुद्धरणाशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिज्ञासंन्यासो नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियिकत्वादित्युक्ते तथैव सामान्येनानैकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात् क एवमाह 'अनित्यः शब्दः' इति प्रतिज्ञासंन्यासात् पराजितो भवतीति (४) ।

अविशेषाभिहिते हेतौ प्रतिषिद्धे तद्विशेषणमभिदधतो हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । तस्मिन्नेव प्रयोगे तथैव सामान्येऽस्य व्यभिचारेण दूषिते जातिमत्त्वे सतीत्यादिविशेषणमुपाददानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति (५) ।

प्रकृतादर्थादर्थान्तरं तदनौपयिकमभिदधतोऽर्थान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । अनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति हेतुः । हेतुरिति हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्तं पदम्, पदं च नामतद्धितनिपातोपसर्गा इति प्रस्तुत्य नामादीनि व्याचक्षाणोऽर्थान्तरेण निगृह्यत इति (६) ।

अभिधेयरहितवर्णानुपूर्वीप्रयोगमात्रं निरर्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः कचतटपानां गजडदबवत्त्वाद् घझढधभवदित्येतदपि सर्वथा अर्थशून्यत्वान्निग्रहाय कल्पेत, साध्यानुपयोगाद्वा (७) ।

यत्साधनवाक्यं दूषणवाक्यं वा त्रिवारमभिहितमपि पर्षत्प्रतिवादिभ्यां बोद्धुं न शक्यते तदविज्ञातार्थं नाम निग्रहस्थानं भवति (८) ।

पूर्वापरासङ्गतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति, दश दाडिमानि षडपूपा इति (९) ।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनवचनक्रममुल्लङ्घ्य अवयवविपर्यासेन प्रयुज्यमानमनुमानवाक्यमप्राप्तकालं नाम निग्रहस्थानं भवति । स्वप्रतिपत्तिवत् परप्रतिपत्तेर्जनने परार्थानुमानक्रमस्यापगमात्[१] (१०) ।

पञ्चावयवे वाक्ये प्रयोक्तव्ये तदेकतमेनानुमानावयवेन हीनं न्यूनं नाम निग्रहस्थानं भवति, साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात् प्रतिज्ञादीनां पञ्चानामपि साधनत्वात् (११) ।

एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरं वा वदतोऽधिकं नाम निग्रहस्थानं भवति (१२) ।

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तं नाम निग्रहस्थानं भवति, अन्यत्रानुवादात्। शब्दपुनरुक्तं नाम यत्र स एव शब्दः पुनरुच्चार्यते यथा अनित्यः शब्दोऽनित्यः

---

१. क्रमस्याप्यङ्गत्वादिति प्रमाणमीमांसायाम् ।

शब्द इति । अर्थपुनरुक्तं तु यत्र सोऽर्थः प्रथममन्येन शब्देनोच्चार्यते पुनः पर्यायान्तरेणोच्यते यथा अनित्यः शब्दो विनाशी ध्वनिरिति । अनुवादे तु पौनरुक्त्यमदोषः । यथा हेतूपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति (१३) ।

पर्षदाविदितस्य वादिना त्रिरभिहितस्यापि यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानं भवति (१४) ।

पर्षदा विज्ञातस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञानं तदज्ञानं नाम निग्रहस्थानम् भवति । अविदितोत्तरविषयो हि किमुत्तरं ब्रूयात् । न चाननुभाषणमेवेदम्, ज्ञातेऽपि वस्तुन्यनुभाषणासामर्थ्यदर्शनात् (१५) ।

परपक्षे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मिन्नुत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभा नाम निग्रहस्थानं भवति (१६) ।

कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपो नाम निग्रहस्थानं भवति । सिषाधयिषितस्यार्थस्याशक्यसाधनतामवसाय कथां विच्छिनत्तीदं मम करणीयं परिहीयते, पीनसेन[1] कण्ठ उपरुद्ध इत्याद्यभिधाय कथां विच्छिन्दन् विक्षेपेण पराजीयते (१७) ।

स्वपक्षे परापादितदोषमनुद्धृत्य तमेव परपक्षे प्रतीपमापादयतो मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानं भवति । चौरो भवान् पुरुषत्वात् प्रसिद्धचौरवदित्युक्ते, भवानपि चौरः पुरुषत्वादति ब्रुवन्नात्मनः परापादितचौरत्वदोषमभ्युपगतवान् भवतीति मतानुज्ञया निगृह्यते (१८) ।

निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणं नाम निग्रहस्थानं भवति । पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्यावश्यं नोदनीयः 'इदं ते निग्रहस्थानमुपनतमतो निगृहीतोऽसि' इत्येवं वचनीयस्तमुपेक्ष्य न निगृह्णाति यः स पर्यनुयोज्योपेक्षणेन निगृह्यते (१९) ।

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगान्निरनुयोज्यानुयोगो नाम निग्रहस्थानं भवति । उपपन्नवादिनमप्रमादिनमनिग्रहार्हमपि निगृहीतोऽसीति यो ब्रूयात्स एवा-

---

१. पीनसो = रोगविशेषः ।

भूतदोषोद्भावनान्निगृह्यत इति (२०) ।

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तो नाम निग्रहस्थानम् । यः प्रथमं कञ्चित्सिद्धान्तमभ्युपगम्य कथामुपक्रमते, तत्र च सिषाधयिषितार्थसाधनाय परोपलम्भाय वा सिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते (२१) ।

हेत्वाभासाश्च यथोक्ता असिद्ध-विरुद्धादयो निग्रहस्थानम् इति (२२) ।

भेदान्तरानन्त्येऽपि निग्रहस्थानानां द्वाविंशतिर्मूलभेदा निवेदिता इति ॥३२॥

(अव०) येन केनचिद् द्रव्येण विपक्षो निगृह्यते तन्निग्रहस्थानम् । प्रतिज्ञाशब्दः सम्बध्यते प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञासंन्यासः प्रतिज्ञाविरोध इत्यादि । हेतौ अनैकान्तिके कृते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तधर्मेऽभ्युपगच्छतः प्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थानम्, यथा अनित्यः शब्द ऐन्द्रियिकत्वात् घटवदिति प्रतिज्ञा साधनाभासवादी वदन् परेण 'सामान्यमैन्द्रियिकमपि नित्यं दृष्टम्' इति हेतावनेकान्ते कृते यद्येवं ब्रूयात् 'सामान्यवद् घटोऽपि नित्यो भवति' इति ब्रुवाणः शब्दानित्यत्वप्रतिज्ञां त्यजेत् । 'पक्षसाधन-दूषणोद्धाराशक्त्या प्रतिज्ञामेव निह्नुवानस्य प्रतिज्ञासंन्यासो निग्रहस्थानम् । यथानित्यः शब्द ऐन्द्रियिकत्वेन तथैव सामान्येनानैकान्तिकतायामुद्भावितायां यदि ब्रूयात् क एवमाह अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञासंन्यासः । प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः निग्रहस्थानम् । यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः । यदि गुणद्रव्यातिरिक्तं तदायं प्रतिज्ञाविरुद्धाभिधानात् पराजीयते ॥३२॥

अथोपसंहरन्नाह—

नैयायिकमतस्यैवं समासः कथितोऽधुना ।
साङ्ख्याभिमतभावानामिदानीमयमुच्यते ॥३३॥

(सो०) **एवम्** इत्थम्प्रकारतया **नैयायिकमतस्य** शैवशासनस्य **समासः** सङ्क्षेपोऽधुना **कथितो** निवेदितः साम्प्रतमेव निष्ठित इत्यर्थः । **इदानीं** पुनरयं समासः **साङ्ख्याभिमतभावानाम् उच्यते** । साङ्ख्याः कापिला इत्यर्थः । तदभिमता तदभीष्टा ये भावाः पञ्चविंशतितत्त्वादयस्तेषां सङ्क्षेपोऽतः

परं कथ्यत इत्यर्थः ॥३३॥

(अव०) पूर्वार्धं सुगमम् । साङ्ख्याः कापिलाः, आदि पुरुषनिमित्तेयं सञ्ज्ञा । तदभीष्टपञ्चविंशतितत्त्वादिभावानां सङ्क्षेपः कथ्यते ॥३३॥

दर्शनस्वरूपमाह—

साङ्ख्या निरीश्वराः केचित्केचिदीश्वरदेवताः ।
सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ॥३४॥

(सो०) **केचित्साङ्ख्या निरीश्वरा** ईश्वरं देवतया न मन्यन्ते केवलाध्यात्मवेदिनः । **केचित्पुनरीश्वरदेवता** महेश्वरं स्वशासनाधिष्ठातारमाहुः । **सर्वेषामपि** । तेषां केवलनित्यात्मवादिनामीश्वरदेवतानां च सर्वेषां साङ्ख्यमतानुसारिणां शासने **तत्त्वानां पञ्चविंशतिः** स्यात् । तत्त्वं ह्यपवर्गसाधकं बीजमिति सर्ववादिसंवादः । यदुक्तम् ।

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥३४॥

तन्मते पञ्चविंशतिस्तत्त्वानीत्यर्थः ।

(अव०) ईश्वरं देवतया न मन्यन्ते केवलाध्यात्मवादिनः । केचित्पुनः ईश्वरदेवताः । तेषामुभयेषामपि तत्त्वानां पञ्चविंशतिर्भवति । तत्त्वं ह्यपवर्गसाधकम् । यदुक्तम्—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥३४॥

गुणत्रयमाह—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति ज्ञेयं तावद् गुणत्रयम् ।
प्रसादतोषदैन्यादिकार्यलिङ्गं क्रमेण तत् ॥३५॥

(सो०) **तावदिति** प्रक्रमे। तेषु तत्त्वेषु सत्त्वं सुखलक्षणं, रजो दुःखलक्षणं तमश्च मोहलक्षणं प्रथमं तावत् (गुणत्रयम्) **सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयं ज्ञेयम्। तद्** गुणत्रयं **क्रमेण** परिपाट्या, **प्रसादतोषदैन्यादिकार्यलिङ्गं** गुणत्रयेणेदं लिङ्गत्रयं क्रमेण जन्यते। सत्त्वगुणेन प्रसादकार्यलिङ्गं = वदननयनादिप्रसन्नता सत्त्वगुणेन स्यादित्यर्थः। रजोगुणेन तोषः स चानन्द-पर्यायः, तल्लिङ्गानि स्फूर्त्त्यादीनि रजोगुणेनाभिव्यज्यन्त इत्यर्थः। तमोगुणेन च दैन्यं जन्यते 'हा दैव नष्टोऽस्मि, वञ्चितोऽस्मि' इत्यादिवचनविच्छायता-नेत्रसङ्कोचादिव्यङ्ग्यं दैन्यं तमोगुणलिङ्गमिति। दैन्यादीत्यादिशब्देन दुःखत्रयमाक्षिप्यते, तद्यथा आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकं चेति। तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं च। शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्, मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम् सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्य-त्वादाध्यात्मिकं दुःखम्। बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा, आधिभौतिकम् आधिदैविकं चेति। तत्राधिभौतिकं मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्, आधिदैविकं यक्षराक्षसग्रहाद्यावेशहेतुकमिति ॥३५॥

(अव०) तावदिति प्रक्रमे। गुणत्रयम्, क्रमेण परिपाट्या विशेषयति। सत्त्वं प्रसादकार्यलिङ्गम्, वदननयनादिप्रसन्नता, रजसि तोष आनन्दपर्यायः। तमोगुणे च दैन्यं चाविच्छायता नेत्रसङ्कोचादि। एतेनैव आधिभौतिक-आध्यात्मिक-आधिदैविकलक्षणं दुःखत्रयमाक्षिप्यते ॥३५॥

तदेवाह—

एतेषां या समावस्था सा प्रकृतिः किलोच्यते।
प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या नित्यस्वरूपिका ॥३६॥

(सो०) **एतेषां** साङ्ख्यानां **प्रकृतिः** प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकानां लाघवोपष्टम्भगौरवधर्माणां परस्परोपकारिणां सत्त्वरजस्तमसां त्रयाणामपि गुणानां **या साम्यावस्था** समतयावस्थितिः **सा किल प्रकृतिरुच्यते,** किलेत्याप्तप्रवादे, सा प्रकृतिः कथ्यते। अन्यच्च सा **प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या** प्रधानशब्देन अव्यक्तशब्देन च प्रकृतिराख्यायते। शास्त्रे प्रकृतिः प्रधानमव्यक्तं चेति पर्याया

न तत्त्वान्तरमित्यर्थः । तथा **नित्यस्वरूपिका** शाश्वतभावतया प्रसिद्धेत्यर्थः । उच्यते च नित्या नानापुरुषाश्रया च तद्दर्शनेन प्रकृतिर्यदाह—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥३६॥

(साङ्ख्यकारिका-६२) इति

(अव०) एतेषां सत्त्वरजस्तमसां प्रीत्यप्रीतिरूपविषयरूपाणां समतयावस्थितिः सा किल प्रकृतिरुच्यते । प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या प्रकृतिः प्रधानमव्यक्तं चेति नामान्तरम् । शाश्वतभावतया प्रसिद्धा नित्या, नानापुरुषाश्रया या च प्रकृतिः ॥३६॥

अनेन दुःखत्रयेणाभिहतस्य प्राणिनस्तत्त्वजिज्ञासोत्पद्यते अतस्तान्येव तत्त्वान्याह—

ततः सञ्जायते बुद्धिर्महानिति यकोच्यते ।
अहङ्कारस्ततोऽपि स्यात्तस्मात्षोडशको गणः ॥३७॥

(सो०) ततो गुणत्रयाभिघाताद् **बुद्धिः सञ्जायते यका बुद्धिर्महानिति उच्यते** महच्छब्देन कीर्त्यत इत्यर्थः । एवमेतन्नान्यथा, गौरयं नाश्वः, स्थाणुरेष नायं पुरुष इत्येवं निश्चयस्तेन पदार्थप्रतिपत्तिहेतुर्योऽध्यवसायः सा बुद्धिरिति । तस्यास्त्वष्टौ रूपाणि तद्दर्शनविश्रुतानि । यदाह-धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि चत्वारि सात्त्विकानि, अधर्मादीनि तु तत्प्रतिपक्षभूतानि चत्वारि तामसानीत्यष्टौ । **ततो बुद्धेरहङ्कारः** स चाभिमानात्मको यथा अहं शब्दे, अहं रूपे, अहं रसे, अहं स्पर्शे, अहं गन्धे, अहं स्वामी, अहम् ईश्वरः, असौ मया हतः, अहं त्वां हनिष्यामीत्यादिप्रत्ययरूपः **तस्मादहङ्कारात्षोडशको गणो** 'जायते' इत्यध्याहारः अस्ति भवतीत्यादिवत् । पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि एकादशं मनः पञ्च तन्मात्राणि षोडशको गणः । तथाह ईश्वरकृष्णः-

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

(साङ्ख्यकारिका-३) इति ॥३७॥

(अव०) ततो गुणत्रयाभिघातान्महानिति बुद्धिरुत्पद्यते । एवमेतन्नान्यथा, गौरेवायं नाश्वः स्थाणुरेवायं न पुरुष इति निश्चयेन पदार्थप्रतिपत्तिः । तस्याः ८ रूपाणि-धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यरूपाणि सत्त्वभूतानि अधर्मादीनि च असात्त्विकानि । ततो बुद्धेरहङ्कारोऽभिमानात्मकः तस्मादहङ्कारात् षोडशकगणमाह ॥३७॥

षोडशकगणमेवाह—

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्याहुस्तथा कर्मेन्द्रियाणि च ॥३८॥

पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानि मनस्तथा ।
अन्यानि पञ्चरूपाणि तन्मात्राणीति षोडश ॥३९॥ युग्मम्

(सो०) **पञ्च बुद्धीन्द्रियाणी**ति सम्बन्धः । **स्पर्शनं** त्वगिन्द्रियम्, **रसनं** जिह्वा, **घ्राणं** नासिका, **चक्षु**र्नेत्रं, **पञ्चमं च श्रोत्रं** कर्ण इति, एतानि पञ्च बुद्धिप्रधानानि बुद्धिसहचराण्येव ज्ञानं जनयन्तीति कृत्वा **बुद्धीन्द्रियाण्याहुः** कथयन्ति तन्मतीया इति । **तथा कर्मेन्द्रियाणि चे**ति । तथा पूर्वोद्दिष्टपञ्च-सङ्ख्यामात्रमपि परामृशति । तान्येवाह-**पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानीति** । पायुरपानम्, उपस्थः प्रजननम्, वचो वाक्यम्, पाणिर्हस्तः, पादश्चरणस्तदाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, कर्म कार्यव्यापारस्तस्य साधनानीन्द्रियाणीति कर्मेन्द्रियाणि । तथा **मन** एकादशमिन्द्रियमित्यर्थः । **अन्यानि पञ्चरूपाणि तन्मात्राणि चेति** । रूपरसगन्धशब्दस्पर्शाख्यानि तन्मात्राणीति **षोडश** ज्ञेयाः ॥३८-३९॥

(अव०) बुद्धिप्रधानानि बुद्धिसहचराण्येवेति कृत्वा बुद्धीन्द्रियाणि । स्पर्शनं त्वगिन्द्रियम् । कर्म-क्रियासाधनानि इन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि । पायुरपानम् । उपस्थः प्रजननम् । वचःपाणिपादाः प्रसिद्धाः । मन एकादशम् । पञ्चतन्मात्राणि शब्दरूप-रसगन्धस्पर्शाख्यानि । एवं षोडशको गणः ॥३८-३९॥

पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतोत्पत्तिमाह—

रूपात्तेजो रसादापो गन्धाद्भूमिः स्वरान्नभः ।
स्पर्शाद्वायुस्तथैवं च पञ्चभ्यो भूतपञ्चकम् ॥४०॥

(सो०) **पञ्चभ्य** इति, पञ्चतन्मात्रेभ्यः **भूतपञ्चकमिति** सम्बन्धः। रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, **गन्धतन्मात्राद् भूमिः, स्वरतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, एवं** पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतान्युत्पद्यन्ते। असाधारणैकैकगुण-कथनमिदम्, उत्पत्तिश्च शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्, शब्दो ह्यम्बरगुण इति। शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुण इति। शब्दस्पर्शतन्मात्र-सहिताद् रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणमिति। शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्र-सतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणा इति। शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायत इति भूतपञ्चकमित्यर्थः ॥४०॥

(अव०) पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यो भूतपञ्चकम्। शब्दतन्मात्रादाकाशम्, शब्दो ह्यम्बरगुणः। स्पर्शतन्मात्राद्वायुः। रसतन्मात्रादापः। रूपतन्मात्रात्तेजः। गन्धतन्मात्राद्भूमिः। शब्दतन्मात्रासहितात् स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणः। शब्दस्पर्शसहितरूपतन्मात्रात्तेजः, शब्दस्पर्शरूपगुणम्। शब्दस्पर्शरूपगुणसहितरस तन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः। शब्दस्पर्शरूपरससहितगन्धतन्मात्रात् पृथिवी शब्दस्पर्शरसरूपगन्धगुणा जायते ॥४०॥

प्रकृतिविस्तरमेवोपसंहरन्नाह—

एवं चतुर्विंशतितत्त्वरूपं निवेदितं साङ्ख्यमते प्रधानम्।
अन्यस्त्वकर्ता विगुणस्तु भोक्ता तत्त्वं पुमान्नित्यचिदभ्युपेतः ॥४१॥

(सो०) **एवं** पूर्वोक्तप्रकारेण **साङ्ख्यमते चतुर्विंशतितत्त्वरूपं प्रधानं निवेदितम्।** प्रकृतिर्महानहङ्कारश्चेति त्रयम्, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनस्त्वेकम्, पञ्च तन्मात्राणि, पञ्चभूतानि, चेति चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि रूपं यस्येति, एवंविधा प्रकृतिः कथितेत्यर्थः। पञ्चविंशतितमं तत्त्वमाह-**अन्यस्त्विति**-अन्योऽकर्ता पुरुषः, प्रकृतेरेव संसरणादिधर्मत्वात्। यदुक्तं—

प्रकृतिः करोति प्रकृतिर्बध्यते प्रकृतिर्मुच्यते, न तु पुरुषः, पुरुषोऽबद्धः पुरुषो मुक्तः।

पुरुषस्तु—

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कापिलदर्शने ॥

पुरुषगुणानाह-**विगुण** इति । सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रयविकलः । तथा **भोक्ता** भोगी, एवम्प्रकारः **पुमान् तत्त्वं** पञ्चविंशतितमं तत्त्वमित्यर्थः । तथा **नित्यचिदभ्युपेतः**, नित्या चासौ चिच्चैतन्यशक्तिस्तयाभ्युपेतः सहितः । आत्मा हि स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तमभिमन्यते । सुखदुःखादयश्च विषया इन्द्रियद्वारेण बुद्धौ सङ्क्रामन्ति । बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा, ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते । ततः सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचर्यते । आह च पातञ्जले, "**शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्नतदात्माऽपि तदात्मक इव प्रतिभासते**" [योगभाष्यम् २-२०] इति । मुख्यतस्तु चिच्छक्तिर्विषयपरिच्छेदशून्या, बुद्धेरेव विषयपरिच्छेदस्वभावत्वात् चिच्छक्तिसन्निधानाच्चाचेतनापि बुद्धिश्चेतनावतीवावभासते । वादमहार्णवोऽप्याह—

बुद्धिदर्पणसङ्क्रान्तमर्थविप्रतिबिम्बकम् ।
द्वितीयदर्पणकल्पे पुरुषे ह्यधिरोहति ॥

तदेव भोक्तृत्वमस्य न तु विकारोत्पत्तिरिति । तथा चासुरिः-

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधेः स्फटिकं यथा ॥ इति

नित्यचिद् = ज्ञानयुक्तः । बन्धमोक्षसंसाराश्च नित्येऽप्यात्मनि भृत्यगतयोर्जयपराजययोरिव तत्फलकोशलाभादिसम्बन्धेन स्वामिन्युपचारवदत्राप्युपचर्यन्त इत्यदोषः ॥४१॥

(अव०) प्रकृतेर्महानहङ्कारः पञ्च बुद्धीन्द्रियाणिपञ्चकर्मेन्द्रियाणि मनश्च पञ्चतन्मात्राणि पञ्च भूतानि, २४ तत्त्वानि रूपं यस्य तत्प्रधानं प्रकृतिः कथिता । पञ्चविंशं

तत्त्वं । पुरुषः अन्यः अकर्ता । प्रकृतिरेव करोति बध्यते मुच्यते च । पुरुषस्तु

अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥

अन्यः प्रकृतिरेव कर्ता तु पुनर्न पुरुषः । विगुणः सत्त्वरजस्तमो-रूपगुणत्रयविकलः । भोक्ता भोगी । नित्यं चा चिच्चैतन्यशक्तिः तयाभ्युपेतः सहितः । आत्मा हि स्वं बुद्धेरव्यतिरिक्तं मन्यते । सुखदुःखादयो विषया इन्द्रियद्वारेण बुद्धौ सङ्क्रामन्ति । बुद्धिश्चोभयमुखदर्पणाकारा । ततस्तस्यां चैतन्यशक्तिः प्रतिबिम्बते । ततः सुख्यहं दुःख्यहमित्युपचर्यते ॥४१॥

तत्त्वोपसंहारमाह—

पञ्चविंशतितत्त्वानि साङ्ख्यस्यैव भवन्ति च ।
प्रधाननरयोश्चात्र वृत्तिः पङ्ग्वन्धयोरिव ॥४२॥

(सो०) पूर्वार्धं निगदसिद्धम् । **अत्र** साङ्ख्यमते **प्रधाननरयोः** प्रकृतिपुरुषयो**र्वृत्ति**र्वर्तनं **पङ्ग्वन्धयो**रिव पङ्गुश्चरणविकलः, अन्धश्च नेत्र-विकलः । यथा पङ्ग्वन्धौ संयुतावेव कार्यसाधनाय प्रभवतो न पृथग्भूतौ । प्रकृतिपुरुषयोरपि तथैव कार्यकर्तृत्वम् । प्रकृत्युपात्तं पुरुषो भुङ्क्त इत्यर्थः ॥४२॥

(अव०) तत्त्वोपसंहारमाह-पूर्वार्धं सुगमम् । अत्र साङ्ख्यमते प्रकृति-पुरुषयोर्वर्तनं पङ्ग्वन्धयोरिव । यथा पङ्ग्वन्धौ संयुतावेव कार्यक्षमौ न पृथक्, तथा प्रकृतिनरौ । प्रकृत्युपात्तं पुरुषो भुङ्क्त इत्यर्थः ॥४२॥

मोक्षं प्रमाणं चाह—

प्रकृतिवियोगो मोक्षः पुरुषस्यैवान्तरज्ञानात् ।
मानत्रितयं च भवेत् प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दम् ॥४३॥

(सो०) मोक्षः किमुच्यत इत्याह । **पुरुषस्यात्मन आन्तरज्ञानात्**

त्रिविधबन्धविच्छेदात**प्रकृतिवियोगो** यः स मोक्षः प्रकृत्या सह वियोगे विरहे सति पुरुषस्यापवर्ग इति । आन्तरज्ञानं च बन्धविच्छेदाद्भवति । बन्धश्च प्राकृतिकवैकृतिकदाक्षिणभेदात् त्रिविधः । तद्यथा, प्रकृतावात्मज्ञानाद् ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः । ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीः पुरुषबुद्ध्योपासते तेषां वैकारिकः । इष्टापूर्ते दाक्षिणः, इष्टापूर्तं जनभोजनदानादिकं तस्मिन्, पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यत इति ।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यत् श्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेन भूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥

(मुण्डकोपनिषद् १.२.१०) इति वचनात्

इति त्रिविधबन्धविच्छेदात्परमब्रह्मज्ञानानुभवस्ततः प्रकृतिवियोगः पुरुषस्य, प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनाच्च निवृत्तायां प्रकृतौ, पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मोक्ष इति श्लोकपूर्वार्द्धार्थः । **मानत्रितयं** च प्रमाणत्रयं च, **भवेत्** स्यात्, **प्रत्यक्षं लैङ्गिकं शाब्दं** च, प्रकारः सर्वत्र सम्बध्यते । प्रत्यक्षमिन्द्रियोपलभ्यम्, लैङ्गिकमनुमानगम्यम्, शाब्दं चागमस्वरूपमिति प्रमाणत्रयम् ॥४३॥

(अव०) प्रकृत्या सह विरहे पुरुषस्य मोक्षः । एतस्याः प्रकृतेर्विषयमान्तरं ज्ञानं बन्धविच्छेदाद् भवति । बन्धस्त्रिविधः प्राकृतिकवैकारिकदाक्षणिकभेदात् । प्रकृतावात्मज्ञानात् प्राकृतिकः । भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धिविकारान् पुरुषबुद्ध्योपासते वैकारिकः । इष्टापूर्ते दाक्षिणः । पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्त्तकारी त्रिविधबन्धच्छेदात् परमब्रह्मज्ञानानुभवः । प्रमाणत्रयम्, प्रत्यक्षमिन्द्रियोपलभ्यम्, लैङ्गिकमनुमानम्, शाब्दं चागमस्वरूपम् ॥४३॥

अथोपसंहरन्नाह—

एवं साङ्ख्यमतस्यापि समासः कथितोऽधुना ।
जैनदर्शनसङ्क्षेपः कथ्यते सुविचारवान् ॥४४॥

(सो०) एवं पूर्वोक्तप्रकारेण **साङ्ख्यमतस्यापि समासः** सङ्क्षेपः **कथितः** । **अपि** समुच्चयार्थे न केवलं बौद्धनैयायिकयोः सङ्क्षेप उक्तः,

साङ्ख्यमतस्याप्यधुना कथित इति । साङ्ख्य इति पुरुषनिमित्तेयं सञ्ज्ञा । **सङ्खस्य** इमे साङ्ख्याः । तालव्यो वा शकारः, शङ्खनामाऽऽदिपुरुषः ।

अथ क्रमायातं जैनमतोद्देशमाह—अधुनेत्युत्तरार्द्धेन वा सम्बध्यते । **अधुना** इदानीं **जैनदर्शनसङ्क्षेपः कथ्यते** कथम्भूत इति । **सुविचारवान्** । सुष्ठु शोभनो विचारोऽर्थोऽस्यास्तीति मत्त्वर्थीये मतुप् । सुविचारवानिति साभिप्रायं पदम् । अपरदर्शनानि हि—

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ (मनु. १२.११०)

इत्याद्युक्त्या न विचारपदवीमाद्रियन्ते । जैनस्त्वाह-

अस्ति वक्तव्यता काचित्तेनेदं न विचार्यते ।
निर्दोषं काञ्चनं चेत्स्यात्परीक्षाया बिभेति किम् ॥

इति युक्तियुक्तविचारपरम्परापरिचयपथपथिकत्वेन जैनो युक्तिमार्गमेवावगाहते । न च पारम्पर्यादिपक्षपातेन युक्तिमुल्लङ्घयति परमार्हतः । उक्तञ्च—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ (लोकतत्त्व. १।३८)

इत्यादिहेतुहेतिशतनिरस्तविपक्षप्रसरत्वेन '**सुविचारवान्**' इत्यसाधारणं विशेषणं ज्ञेयमिति ॥४४॥

(अव०) चः समुच्चये । न केवलं बौद्धनैयायिकयोः साङ्ख्यमतस्यापि सङ्क्षेपः कथितः । सुष्ठु शोभनो विचारोऽर्थोऽस्यास्तीति साभिप्रायम् । अपराणि दर्शनानि—

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ (मनुस्मृतिः १२.११०)

इत्याद्यविचारपदवीमाद्रियन्ते । जैनस्त्वाह—

अस्ति वक्तव्यता काचित्तेनेदं न विचार्यते ।
निर्दोषं काञ्चनं चेत्स्यात् परीक्षाया बिभेति किम् ॥

जैनो युक्तिमेवावगाहते—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥४४॥

तदेवाह—

जिनेन्द्रो देवता तत्र रागद्वेषविवर्जितः ।
हतमोहमहामल्लः केवलज्ञानदर्शनः ॥४५॥

सुरासुरेन्द्रसम्पूज्यः सद्भूतार्थोपदेशकः ।
कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा सम्प्राप्तः परमं पदम् ॥४६॥

(सो०) तत्र तस्मिन् जैनमते **जिनेन्द्रो देवता** कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा परमं पदं सम्प्राप्त इति सम्बन्धः । जिनेन्द्र इति जयन्ति रागादीनिति जिनाः सामान्यकेवलिनस्तेषामिन्द्रः स्वामी तादृशासदृशचतुस्त्रिंशदतिशयसम्पत्सहितो जिनेन्द्रो देवता दर्शनप्रवर्तक आदिपुरुषः एष कीदृक् सन् शिवं सम्प्राप्त इति परासाधारणानि विशेषणान्याह **रागद्वेषविवर्जित** इति । रागः सांसारिक-स्नेहोऽनुग्रहलक्षणः, द्वेषो वैराद्यनुबन्धान्निग्रहलक्षणः, ताभ्यां विवर्जितो रहितः । एतावेव दुर्जयौ दुरन्तभवसम्पातहेतुकतया च मुक्तिप्रतिरोधकौ समये प्रसिद्धौ । यदाह-

को दुक्खं पाविज्जा कस्स न सुक्खेहिं विम्हओ हुज्जा ।
को य न लभेज्ज मुक्खं रागद्दोसा जइ न हुज्जा ॥

(उपदेशमाला-१२९) इति

तथा **हतमोहमहामल्लः** मोहनीयकर्मोदयात् हिंसात्मकशास्त्रेभ्योऽपि मुक्तिकाङ्क्षणादिव्यामोहो मोहः स एव दुर्जेयत्वान्महामल्ल इव महामल्लः, हतो मोहमहामल्लो येनेति स तथा । रागद्वेषमोहसद्भावादेव न चान्यतीर्थाधिष्ठातारो मुक्त्यङ्गतया प्रतिभासन्ते, तत्सद्भावश्च तेषु सुज्ञेय एव । यदुक्तम्-

रागोऽङ्गनासङ्गमनानुमेयो द्वेषो द्विषाद् दारणहेतिगम्यः ।
मोहः कुवृत्तागमदोषसाध्यो नो यस्य देवस्य स चैवमर्हन् ॥

इति रागद्वेषमोहरहितो भगवान् । **तथा केवलज्ञानदर्शनः** । धवखदिरपलाशादिव्यक्तिविशेषावबोधो ज्ञानम् । वनमिति सामान्यावबोधो दर्शनम् । केवलशब्दश्चोभयत्र सम्बध्यते । केवलमिन्द्रियादिज्ञानानपेक्षं ज्ञानं दर्शनं च यस्येति । केवलज्ञानकेवलदर्शनात्मको हि भगवान् करतलकलित-विमलमुक्ताफलवद् द्रव्यपर्यायविशुद्धमखिलमिदमनवरतं जगत्स्वरूपं पश्यतीति केवलज्ञानदर्शन इति पदं साभिप्रायम् । छद्मस्थस्य हि प्रथमं दर्शनमुत्पद्यते, ततो ज्ञानं, केवलिनस्त्वादौ ज्ञानं ततो दर्शनमिति । तथा **सुरासुरेन्द्रसम्पूज्यः** । सेवावधान-सावधान-निरन्तर-ढौकमान-दासायमान-देव-दानव-नायकवन्दनीयः । तादृशैरपि पूज्यस्य मानवतिर्यक्खेचरकिन्नरनिकरसंसेव्यत्वमानुषङ्गिकमिति । तथा **सद्भूतार्थोपदेशकः** सद्भूतार्थान् द्रव्यपर्यायरूपान् नित्यानित्यसामान्य-विशेषसदसदभिलाप्यानभिलाप्याद्यनन्तधर्मात्मकान् पदार्थानुपदिशति यः स इति ।

उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं च सदिति अभिमन्यमानो जैन एकान्तनित्य-पक्षमेकान्तानित्यपक्षं चेत्थं विघटयति । तथा हि—वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम् तच्च नित्यैकान्ते न घटते । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपो हि नित्यः, स च क्रमेणार्थक्रियां कुर्वीताक्रमेण वा । अन्योन्यव्यतिरिक्तधर्माणामर्थानां प्रकारान्तरेणोत्पादाभावात् । तत्र न क्रमेण, स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात् समर्थस्य कालक्षेपायोगात्, कालक्षेपिणो वासामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थोऽपि हि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेद्, न तर्हि तस्य सामर्थ्यमपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्त्वात् 'सापेक्षमसमर्थम्' इति न्यायात् । न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्ते, अपि तु कार्यमेव सहकारिष्व-सत्स्वभवत्तानपेक्षत इति चेत्, तत्कि स भावोऽसमर्थः समर्थो वा, समर्थश्चेत्कि सहकारिमुखप्रेक्षणदीनानि, तान्यपेक्षते न पुनर्झटिति घटयति । ननु समर्थमपि बीजमिलाजलानिलादिसहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति नान्यथा, तत्कि बीजस्य सहकारिभिः किञ्चिदुपक्रियते, न वा । यदि नोपक्रियते तदा सहकारि-सन्निधानात्प्रागिव किं न सोऽर्थक्रियायामुदास्ते, उपक्रियते चेत्, स तर्हि तैरुपकारो भिन्नोऽभिन्नो वा क्रियत इति वाच्यम् । अभेदे, स एव क्रियत इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायाता, कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वापत्तेः । भेदे सति कथं तस्योपकारः किं न सह्यविन्ध्यादेरपि । तत्सम्बन्धात्तस्यायमिति चेत्,

उपकार्योपकारकयोः कः सम्बन्धः ? न तावत्संयोगः, द्रव्ययोरेव तस्य भावात्। अत्र तूपकार्यं द्रव्यमुपकारश्च क्रियेति न संयोगः । नापि समवायः, तस्यैकत्वाद् व्यापकत्वाच्च प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वान्न नियतैः सम्बन्धिभिः सम्बन्धो युक्तः । नियतसम्बन्धिसम्बन्धे चाङ्गीक्रियमाणे तत्कृतोपकारोऽस्य समवायस्याभ्युपगन्तव्यः, तथा च सत्युपकारस्य भेदाभेदकल्पना तदवस्थैव । उपकारस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात् भेदे पुनरपि समवायस्य न नियतसम्बन्धे सम्बन्धत्वम् । तन्नैकान्तनित्यो भावः क्रमेणार्थक्रियां कुरुते । नाप्यक्रमेण, न ह्येको भावः सकलकालकलाभाविनीर्युगपत्सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकम्, कुरुतां वा तथापि स द्वितीयक्षणे किं कुर्यात् । करणे वा क्रमपक्षभावी दोषः, अकरणे त्वर्थक्रियाकारित्वाभावादवस्तुत्वप्रसङ्ग इत्येकान्त-नित्यात् क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तार्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलाद् व्यापकनिवृत्तौ निवर्तमाना व्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्तयति अर्थक्रियाकारित्वं च निवर्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयतीति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्षमः ।

एकान्तानित्यपक्षोऽपि न कक्षीकरणार्हः । अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी, स च न क्रमेणार्थक्रियासमर्थो देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाभावात् । क्रमो हि पौर्वापर्यम्, तच्च क्षणिकस्यासम्भवि अवस्थितस्यैव हि नानादेशकाल-व्याप्तिर्देशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते न चैकान्तविनाशिनि सास्ति । यदाहुः-

यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः ।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥

न च सन्तानापेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः सम्भवति । सन्तानस्या-वस्तुत्वात्, वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वम्, न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः । अथाक्षणिकत्वम्, तर्हि समाप्तः क्षणभङ्गवादः । नाप्यक्रमेणार्थ-क्रिया क्षणिके सम्भवति, स ह्येको बीजपुरादिरूपादिक्षणो युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन्नेकेन स्वभावेन जनयेत्, नानास्वभावैर्वा । यद्येकेन; तदा तेषां रसादिक्षणानामेकत्वं स्यादेकस्वभावजन्यत्वात् । अथ नानास्वभावैर्जनयति किञ्चिद्रूपादिकमुपादानभावेन किञ्चिद्रसादिकं सहकारित्वेनेति । ते तर्हि स्वभावास्तस्यात्मभूताः, अनात्मभूता वा । अनात्मभूताश्चेत्, स्वभावत्वहानिः । यद्यात्मभूताः, तर्हि तस्यानेकत्वमनेकस्वभावत्वात् तेषाम्, स्वभावानां वैकत्वं

प्रसज्येत । तदव्यतिरिक्तत्वात्तेषां तस्य चैकत्वात् । अथ य एवैकत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते, तर्हि नित्यस्यैकरूपस्य क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसाङ्कर्यं च कथमिष्यते क्षणिकवादिना । अथ नित्यमेकस्वरूपत्वादक्रमम्, अक्रमाच्च क्रमिणां नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिरिति चेद्, अहो स्वपक्षपक्षपाती देवानांप्रियः । यः खलु स्वयमेकस्मान्निरंशाद्रूपादिक्षणलक्षणात्कारणात्, युगपदनेककारणसाध्यान्यनेककार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नानाकार्यकरणेऽपि विरोधमुद्भावयति । तस्मात्क्षणिकस्यापि भावस्याक्रमेणार्थक्रिया दुर्घटा इत्यनित्यैकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्निवृत्त्यैव व्याप्यार्थक्रिया व्यावर्तते तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलम्भबलेनैव निवर्तत इत्येकान्तानित्यवादोऽपि न रमणीयः । स्याद्वादे तु पूर्वोत्तराकारपरिहार-स्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा । न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसन् स्याद्वाद इति वाच्यम् । नित्यपक्षानित्यपक्षविलक्षणस्य कथञ्चित्सदसदात्मकस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात् तथैव च सर्वैरनुभवादिति । तथा च पठन्ति-

भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः ।
तमभागं विभागेन नरसिंहं प्रचक्षते ॥ इति

तथा सामान्यैकान्तं, विशेषैकान्तं, भिन्नौ सामान्यविशेषौ चेत्थं निराचष्टे । तथा हि—विशेषाः सामान्याद्भिन्नाः अभिन्ना वा । भिन्नाश्चेत्; मण्डूकजटाभारानुकाराः । अभिन्नाश्चेत्; तदेव तत्स्वरूपवदिति सामान्यैकान्तः । सामान्यैकान्तवादिनस्तु द्रव्यास्तिकनयानुपातिनो मीमांसकभेदाः, अद्वैतवादिनः साङ्ख्याश्च ।

पर्यायनयान्वयिनस्तु भाषन्ते विविक्ताः क्षणक्षयिणो विशेषा एव परमार्थास्ततो विष्वग्भूतस्य सामान्यस्याप्रतीयमानत्वात् । न हि गवादिव्यक्त्यनुभवकाले वर्णसंस्थानात्मकं व्यक्तिरूपमपहायान्यत्किञ्चिदेकमनुयायि प्रत्यक्षे प्रतिभासते तादृशस्यानुभवाभावात् । तथा च पठन्ति—

एतासु पञ्चस्ववभासिनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुलीषु ।
साधारणं रूपमवेक्षते यः शृङ्गं शिरस्यात्मन ईक्षते सः ॥

एकाकारपरामर्शप्रत्ययस्तु स्वहेतुदत्तशक्तिभ्यो व्यक्तिभ्य एवोत्पद्यत इति न तेन सामान्यसाधनं न्याय्यम् । किञ्च यदिदं सामान्यं परिकल्प्यते तदेकम्, अनेकं वा । एकमपि सर्वगतम्, असर्वगतं वा । सर्वगतं चेत्; किं न व्यक्त्यन्तरालेषूपलभ्यते । सर्वगतैकत्वाभ्युपगमे च तस्य यथा गोत्वसामान्यं गोव्यक्तीः क्रोडीकरोति, एवं किं न घटपटादिव्यक्तीरप्यविशेषात् । असर्वगतं चेद्; विशेषरूपापत्तिरभ्युपगमबाधश्च । अथानेकगोत्वाश्वत्वघटत्वपटत्वादि-भेदभिन्नत्वात्, तर्हि विशेषा एव स्वीकृता अन्योन्यव्यावृत्तिहेतुत्वात् । न हि यद् गोत्वं तदश्वत्वात्मकमिति । अर्थक्रियाकारित्वं च वस्तुनो लक्षणं तच्च विशेषेष्वेव स्फुटं लक्ष्यते । न हि सामान्येन काचिदर्थक्रिया क्रियते; तस्य निष्क्रियत्वात् । वाहदोहादिकासु अर्थक्रियासु विशेषाणामेवोपयोगात् । तथेदं सामान्यं विशेषेभ्यो भिन्नमभिन्नं वा । भिन्नं चेत्; अवस्तु, विशेषविश्लेषेणार्थ-क्रियाकारित्वाभावात् । अभिन्नं चेत्; विशेषा एव तत्स्वरूपवदिति विशेषै-कान्तवादः ।

नैगमनयानुगामिनस्त्वाहुः । स्वतन्त्रौ सामान्यविशेषौ, तथैव प्रमाणेन प्रतीतत्वात् । तथा हि—सामान्यविशेषावत्यन्तं भिन्नौ विरुद्धधर्माध्यासितत्वात्, यावेवं तावेवं यथा पाथःपावकौ, तथा चेतौ, तस्मात्तथा । सामान्यं हि गोत्वादि सर्वगतं तद्विपरीताश्च शबलशाबलेयादयो विशेषाः ततः कथमेषामैक्यं युक्तम् । न सामान्यात् पृथग् विशेषस्योपलम्भ इति चेत्; कथं तर्हि तस्योपलम्भ इति वाच्यम् । सामान्यव्याप्तस्येति चेत्; न तर्हि स विशेषोपलम्भः, सामान्यस्यापि तेन ग्रहणात् । ततश्च तेन बोधेन विविक्तविशेषग्रहणाभावात् तद्वाचकं ध्वनिं तत्साध्यं च व्यवहारं न प्रवर्तयेत् प्रमाता, न चैतदस्ति विशेषाभिधानव्यवहारयोः प्रवृत्तिदर्शनात्; तस्माद्विशेषमभिलषता तत्र व्यवहारं प्रवर्तयता तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽभ्युपगन्तव्यः । एवं सामान्यस्थाने विशेषशब्दं विशेषस्थाने च सामान्यशब्दं प्रयुञ्जानेन सामान्येऽपि तद्ग्राहको बोधो विविक्तोऽङ्गीकर्तव्यः । तस्मात्स्वस्वग्राहिणि ज्ञाने पृथक् प्रतिभासमानत्वात् द्वावपीतरेतरविशकलितौ, ततो न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटत इति स्वतन्त्रः सामान्यविशेषवादः । स्वतन्त्रसामान्यविशेषदेशका नैगमनयानुरोधिनः काणादा आक्षपादाश्च । तदेतत्पक्ष-त्रयमपि क्षोदं न क्षमते, प्रमाणबाधितत्वात् । सामान्यविशेषोभयात्मकस्यैव वस्तुनो

निर्विगानमनुभूयमानत्वात् । वस्तुनो हि लक्षणमर्थक्रियाकारित्वम्, तच्चानेकान्तवाद एवाविकलं कलयन्ति परीक्षकाः । तथा हि-गौरित्युक्ते खुरककुदलाङ्गूल-सास्नाविषाणाद्यवयवसम्पन्नं वस्तुरूपं सर्वव्यक्त्यनुयायि प्रतीयते, तथा महिष्यादिव्यावृत्तिरपि प्रतीयते । यत्रापि च शबला गौरित्युच्यते, तत्रापि च यथा विशेषप्रतिभासस्तथा गोत्वप्रतिभासोऽपि स्फुट एव । शबलेति केवल-विशेषोच्चारणेऽप्यर्थात्प्रकरणाद्वा गोत्वमनुवर्तते । अपि च शबलत्वमपि नानारूपम्; तथा दर्शनात् । ततो वक्त्रा शबलेत्युक्ते क्रोडीकृतसकलशबलसामान्यं विवक्षितगोव्यक्तिगतमेव शबलत्वं व्यवस्थाप्यते । तदेवमाबालगोपालं प्रतीतिप्रसिद्धेऽपि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वे तदुभयैकान्तवादः प्रलापमात्रम् । न हि क्वचित्कदाचित्केनचित् किञ्चित्सामान्यं विशेषविनाकृतमनुभूयते, विशेषा वा तद्विनाकृताः । यदाहुः—

द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा ॥ इति

केवलं दुर्नयबलप्रभावितप्रबलमतिव्यामोहादेकमपलप्यान्यतरद् व्यव-स्थापयन्ति कुमतयः । सोऽयमन्धगजन्यायः । येऽपि च तदेकान्तपक्षोपनिपातिनः प्रागुक्तदोषास्तेऽप्यनेकान्तवादप्रचण्डमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वान्नोच्छ्वसितुमपि क्षमाः ।

स्वतन्त्रसामान्यविशेषवादिनस्त्वेवं प्रतिक्षेप्याः सामान्यं प्रतिव्यक्ति कथञ्चिद्विभिन्नम्; कथञ्चित्तदात्मकत्वाद्विसदृशपरिणामवत् । यथैव हि काचिद्व्यक्तिरुपलभ्यमानाद् व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते, तथा सदृशपरिणामात्मकसामान्यदर्शनात्समानेति, तेन समानो गौरयं, सोऽनेन समान इति प्रतीतेः । न चास्य व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात् सामान्यरूपताव्याघातः । यतो रूपादीनामपि व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वमस्ति, न च तेषां गुणरूपताव्याघातः । कथञ्चिद्व्यतिरेकस्तु रूपादीनामिव सदृशपरिणामस्याप्यस्त्येव पृथग्व्यपदेशादि-भाक्त्वात् । विशेषा अपि नैकान्तेन सामान्यात्पृथग्भवितुमर्हन्ति । यतो यदि सामान्यं सर्वगतं सिद्धं भवेत्; तदा तेषामसर्वगतत्वेन ततो विरुद्धधर्माध्यासः स्यात् । न च तस्य तत्सिद्धं, प्रागुक्तयुक्त्या निराकृतत्वात् । सामान्यस्य विशेषाणां च परस्परं कथञ्चिदव्यतिरेकेणैकानेकरूपतया व्यवस्थिततत्वात् । विशेषेभ्यो-ऽव्यतिरिक्तत्वाद्धि सामान्यमप्यनेकमिष्यते । सामान्यात्तु विशेषाणामव्यतिरेकात्

तेऽप्येकरूपा इति । एकत्वं च सामान्यस्य सङ्ग्रहनयार्पणात्सर्वत्र विज्ञेयम् । अनेकत्वं च प्रमाणार्पणात्तस्य सदृशपरिणामरूपस्य विसदृशपरिणामवत् प्रतिव्यक्तिभेदात् । एवं चासिद्धं सामान्यविशेषयोः सर्वथा विरुद्ध-धर्माध्यासितत्वम् । कथञ्चिद्विरुद्धर्माध्यासितत्वं चेद्विवक्षितम्; तदास्मत्पक्षप्रवेशः । कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासस्य कथञ्चिद्भेदाविनाभूतत्वात् । पाथःपावकदृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः; तयोरपि कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासितत्वेन भिन्नत्वेन च स्वीकारात्, पयस्त्वपावकत्वादिना हि तयोर्विरुद्धधर्माध्यासो भेदश्च, द्रव्यत्वादिना पुनस्तद्वैपरीत्यमिति । तथा च कथं न सामान्यविशेषात्मकत्वं वस्तुनो घटत इति । उक्तञ्च—

दोहिं वि णएहिं णीयं सत्थमुलूगेण तहवि मिच्छत्तं ।
जं सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खं ॥

(सन्मतिप्रकरण-का. ३.४९) तथा

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि ॥

(मीमांसाश्लोकवार्तिक सू. ५.१०)

तथैकान्तसत्त्वमेकान्तासत्त्वं च वार्त्तमेव । तथा हि सर्वभावानां हि सदसदात्मकत्वमेव स्वरूपम् । एकान्तसत्त्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्यात्, एकान्तासत्त्वे च निःस्वभावता भावानां स्यात्, तस्मात्स्वरूपेण सत्त्वात्, पररूपेण चासत्त्वात् सदसदात्मकं वस्तु सिद्धम् । यदाहुः—

सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसम्भवः ॥ इति

ततश्चैकस्मिन् घटे सर्वेषां घटव्यतिरिक्तपदार्थानामभावरूपेण वृत्तेरने-कान्तात्मकत्वं घटस्य सूपपादम् । एवं चैकस्मिन्नर्थे ज्ञाते सर्वेषामर्थानां ज्ञानं सर्वपदार्थपरिच्छेदमन्तरेण तन्निषेधात्मन एकस्य वस्तुनो विविक्ततया परिच्छेदा-सम्भवात् । आगमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः—

"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ।" तथा-

(आचाराङ्ग-श्रु. १-अ.३.उ.४ सू. १२२)

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥

इति सुघटं सदसदनेकान्तात्मकं वस्तु । अनयैव भङ्ग्या स्यादस्ति-स्यान्नास्तिस्यादवक्तव्यादिसप्तभङ्गीविस्तरस्य जगत्पदार्थसार्थव्यापकत्वाद् अभिलाप्यानभिलाप्यात्मकमप्यूह्यमिति सद्भूतार्थोपदेशक इति ।

कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वेति । कृत्स्नानि सर्वाणि घात्यघात्यादीनि यानि कर्माणि जीवभोग्यवेद्यपुद्गलास्तेषां क्षयं निर्जरणं विधाय । **परमं पदं** मोक्षपदं **सम्प्राप्तः** । अपरे हि सौगतादयो मोक्षमवाप्यापि तीर्थनिकारादिसम्भवे भूयो भूयो भवमवतरन्ति । यदाहुः—

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम् ।
गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः ॥ इति

न ते परमार्थतो मोक्षगतिभाजः, कर्मक्षयाभावात् । न हि तत्त्वतः कर्मक्षये पुनर्भवावतारः । यदुक्तम्—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥

(तत्त्वार्था० भा० १०-७) इति

उक्तश्च श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादैरपि भवाभिगामुकानां प्रबलमोह-विजृम्भितम् । यथा—

दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य निर्वाणमप्यनवधारितभीरनिष्टम् ।
मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥

(सिद्धि० द्वात्रिं०) इति

अर्हंश्च भगवान् कर्मक्षयपूर्वमेव शिवपदं प्राप्त इति ।

(अव०) देवतत्त्वमाह-जयन्ति रागादीन् जिनाः केवलिनः तेषामिन्द्रः स्वामी । रागः सांसारिकः स्नेहः, द्वेषो वैरानुबन्धः, तद्रहितः । धवखदिरपलाशादि-विशेषावबोधो ज्ञानम्, वनमिति सामान्यावबोधो दर्शनम् । केवलशब्द उभयत्र सम्बध्यते । केवलम् इन्द्रियज्ञानानपेक्षम् । छद्मस्थस्य हि प्रथमं दर्शनं ततो ज्ञानम्,

केवलिनस्त्वादौ ज्ञानं ततो दर्शनम् ॥४५॥

मोहनीयकर्मोदयाद् हिंसात्मकशास्त्रेभ्योऽपि युक्तिकाङ्क्षादिमोहः स एव मल्लः, स हि येन हतः । रागद्वेषमोहसद्भावादेवान्यतीर्थाधिष्ठातारो न मुक्ततया प्रसिद्धाः । सुरासुरसेव्यमानत्वमानुषङ्गिकफलम् । सद्रूपान् द्रव्यपर्यायरूपान् नित्यानित्यसामान्य-विशेषाद्यनन्तधर्मात्मकान् पदार्थानुपदिशति । यः सर्वाणि धनधान्यादीनि कर्माणि जीवयोग्यावद्यपुद्गलाः तेषां क्षयं विधाय मोक्षं सम्प्राप्तः । अपरे सौगतादयः मोक्षं प्राप्ता अपि स्वतीर्थतिरस्कारदर्शने पुनर्भवमवतरन्तः श्रूयन्ते, न तेषां कर्मक्षयः । कर्मक्षये हि भवावतारः कुतः ? ॥४६॥

तत्त्वान्याह—

जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमास्रवसंवरौ ।
बन्धश्च निर्जरामोक्षौ नव तत्त्वानि तन्मते ॥४७॥

(सो०) तन्मते जैनमते **नव तत्त्वानि** सम्भवन्ति इति ज्ञेयम् । नामानि निगदसिद्धान्येव ।

(अव०) तत्त्वान्याह । तन्मते जैनमते तत्त्वानि ज्ञेयानि निगद-सिद्धनामानि ॥४७॥

जीवाजीवपुण्यतत्त्वमेवाह—

तत्र ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान् ।
कर्त्ता शुभाशुभं कर्म भोक्ता कर्मफलस्य च ॥४८॥

चैतन्यलक्षणो जीवो, यश्चैतद्वैपरीत्यवान् ।
अजीवः स समाख्यातः, पुण्यं सत्कर्मपुद्गलाः ॥४९॥ युग्मम् ।

(सो०) तत्र जैनमते, **चैतन्यलक्षणो** जीव इति सम्बन्धः । विशेषणान्याह-**ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्न** इति । ज्ञानमादिर्येषां धर्माणामिति

ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा धर्मा गुणास्तेभ्योऽयं जीवश्चतुर्दशभेदोऽपि कथञ्चिद्भिन्नः कथञ्चिदभिन्न इत्यर्थः । एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तेषु जीवेषु स्वापेक्षया ज्ञानवत्त्वमस्त्येवेत्यभिन्नत्वं ज्ञानादिभ्यः-परापेक्षया पुनरज्ञानवत्त्वमिति भिन्नत्वम् । लेशतश्चेत्सर्वजीवेषु न ज्ञानवत्त्वं तदा जीवोऽजीवत्वं प्राप्नुयात् । तथा च सिद्धान्तः—-

सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतओ भागो निच्चुग्घाडिओ ।
जइ सो वि आवरिज्जा तो जीवो अजीवत्तं पाविज्जा ।
सुट्ठु वि मेहसमुदये होइ पहा चंदसूराणं ॥

तथा **विवृत्तिमानिति** । विवृत्तिः परिणामः सास्यास्तीति मत्वर्थीयो मतुप् । सुरनरनारकतिर्यङ्क्षु एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तजातिषु विविधोत्पत्तिरूपान् परिणामाननुभवति जीव इत्यर्थः । अन्यच्च **शुभाशुभं कर्म कर्त्ता** । शुभं सातवेद्यम्, अशुभमसातवेद्यम् । शुभं चाशुभं चेति द्वन्द्वः । एवंविधं कर्म भोक्तव्यफलकर्तृभूतं[1] कर्त्ता स्वात्मसाद्विधाता उपार्जयितेति यावत् । न च साङ्ख्यवदकर्त्ता आत्मा शुभाशुभाबन्धकश्चेति । तथा **कर्मफलस्य भोक्ता** । न च केवलं कर्त्ता, किं तु भोक्तापि स्वोपार्जितपुण्यपापकर्मफलस्य वेदयिता । न चान्यकृतस्यान्यो भोक्ता । तथा चागमः—

जीवाणं भंते ! किं अत्तकडे दुक्खे,
परकडे दुक्खे, तदुभयकडे दुक्खे ? ।
गोयमा ! अत्तकडे दुक्खे, न परकडे दुक्खे,
नो तदुभयकडे दुक्खे ॥ (भगवतीसूत्र) इति

कर्त्तैव भोक्ता । **तथा चैतन्यलक्षण** इति । चैतन्यं चेतनास्वभावत्वं, तदेव लक्षणं मूलगुणो यस्येति । सूक्ष्मबादरभेदा एकेन्द्रियास्तथा विकलेन्द्रियास्त्रयः सञ्ज्यसञ्ज्ञिभेदाश्च पञ्चेन्द्रियाः, सर्वेऽपि पर्याप्ता अपर्याप्ताश्चेति चतुर्दशापि जीवभेदाश्चैतन्यं न व्यभिचरन्तीति ।

अथाजीवमाह-'**यश्चैतद्वैपरीत्यवानजीवः स समाख्यातः**' इति । यः पुनस्तस्माज्जीवलक्षणाद्वैपरीत्यमन्यथात्वमस्यास्तीति तद्वैपरीत्यवान् विपरीतस्व-

---

१. फलं तस्य कर्तृभूतः कर्ता इति सम्भाव्यते ।

भावोऽचेतनः सोऽजीवः समाख्यातः कथितः पूर्वसूरिभिरिति । भेदाश्च धर्माधर्माकाशपुद्गलाः स्कन्धदेशप्रदेशगुणा अद्धाकेवलपरमाणुश्चेति चतुर्दश अजीवभेदाः । **पुण्यं सत्कर्मपुद्गला** इति । पुण्यं नाम तत्त्वं कीदृगित्याह– सत्कर्मपुद्गला इति । सच्छोभनं सातवेद्यं कर्म, तस्य पुद्गला दलपाटकानि पुण्यप्रकृतय इत्यर्थः । ताश्च द्वाचत्वारिंशत्तद्यथा–

नरतिरिसुराउउच्चं सायं परघायआयवुज्जोयं ।
तित्थुस्सासनिमाणं पणिंदिवइरुसभचउरंसं ॥
तसदसचउवन्नाई सुरमणुदुगपंचतणुउवंगतियं ।
अगुरुलहुपढमखगई बायालीसं ति सुहपयडी ॥

भावार्थस्तु ग्रन्थविस्तरभयान्नोच्यत इति श्लोकार्थः ।

(अव०) जीवादिस्वरूपमाह । जैनमते चैतन्यलक्षणो जीव इति सम्बन्धः । ज्ञानदर्शनचारित्रधर्माणां गुणाभिन्नो भिन्नश्च(?) । स्वापेक्षया ज्ञानवत्त्वमभिन्नं ज्ञानादिभ्यः, परापेक्षया ज्ञानवत्त्वं भिन्नम्, लेशतोऽपि यदि सर्वजीवेषु न ज्ञानं तदा जीवोऽजीवत्वं प्राप्नुयात् । विवृत्तिः परिणामः सुरनरनारकतिर्यक्षु एकेन्द्रियादिजातिषु विविधोत्पत्तिरूपान् परिणामाननुभवति जीवः । शुभं सातवेद्यम् अशुभमसातवेद्यम्, एवंविधं कर्म करोतीति कर्तृभूतः । स्वोपार्जितपुण्यपापफलभोक्ता, न चान्यकृतस्यान्यो भोक्ता ॥४८॥

चेतनास्वभावत्वं लक्षणं यस्य सूक्ष्मबादरएकेन्द्रियास्तथा विकलेन्द्रियाः सञ्ज्ञ्यसञ्ज्ञिनः पञ्चेन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्तभेदेन चतुर्दशजीवभेदाः । अस्माद्यो विपरीतोऽचेतनादिलक्षणः स अजीवः धर्माधर्माकाशपुद्गलाः स्कन्धदेशप्रदेशगुणाः, अद्धा केवलपरमाणवश्चेति चतुर्दश अजीवभेदाः । सत् शोभनं सातवेद्यं कर्म तस्य पुद्गलाः दलपाटकानि ते च ॥४९॥

शेषतत्त्वमाह—

पापं तद्विपरीतं तु मिथ्यात्वाद्यास्तु हेतवः ।
यस्तैर्बन्धः स विज्ञेय आस्रवो जिनशासने ॥५०॥

(सो०) तु पुनस्तद्विपरीतं पुण्यप्रकृतिविसदृशं **पापं** पापतत्त्व–

मित्यर्थः । **मिथ्यात्वाद्याश्चेति** । मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा **हेतवः** । पापस्य कारणानि तत्प्रकृतयश्च द्व्यशीतिस्तद्यथा—

थावरदसचउजाई अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरिनिरयदुगुवघाई वन्नचऊनामचउतीसा ॥

नरयाउ नीय अस्सायघाइपणयालसहियबासीई इति ।

पुण्यप्रकृतिव्यतिरिक्ताः पापप्रकृतयो द्व्यशीतिः । वर्णचतुष्कस्य तु शुभाशुभरूपेणोभयत्रापि सम्बध्यमानत्वान्न दोषः । **यस्तैर्बन्ध** इति । यस्तैर्मिथ्या-दर्शनादिभिर्बन्धः स कर्मबन्धः । **स जिनशासन आस्रवो विज्ञेयः**, आस्रवतत्त्वं ज्ञेयमित्यर्थः । तत्प्रकृतयश्च द्वाचत्वारिंशत् । तथा हि-पञ्चेन्द्रियाणि, चत्वारः कषायाः, पञ्च अव्रतानि, मनोवचनकायाः, पञ्चविंशति-क्रियाश्च कायिक्यादय इत्यास्रवः ॥५०॥

(अव०) तु पुनः पुण्यप्रकृतिविसदृशं पापम् । ८२ भेदाः । मिथ्यादर्शना-विरतिप्रमादकषाययोगा हेतवः । यस्तैर्मिथ्यात्वादिभिर्बन्धस्य हेतुः कर्मबन्धः स आस्रवः । ४२ भेदाः । पञ्चेन्द्रियाणि, चत्वारः कषायाः, पञ्च व्रतानि, मनोवचनकायाः, पञ्चविंशतिक्रियाः कायिक्यादय इति ॥५०॥

संवरस्तन्निरोधस्तु बन्धो जीवस्य कर्मणः ।
अन्योन्यानुगमात्कर्मसम्बन्धो यो द्वयोरपि ॥५१॥

(सो०) तु पुनस्तन्निरोध आस्रवद्वारप्रतिरोधः संवरः तत्त्वम् । संवरप्रकृतयस्तु सप्तपञ्चाशत्तद्यथा—

समिइगुत्तिपरीसहजइधम्मभावणाचरित्ताणि ।
पणतिगदुवीसदसबारपंचभेएहिं सगवण्णा ॥ (नवतत्त्व-२५)

पञ्च समितयस्तिस्रो गुप्तयो, द्वाविंशतिः परीषहा, दशविधो यतिधर्मः, द्वादश भावनाः, पञ्च चारित्राणीति प्रकृतयः । **बन्धो** नाम **जीवस्य** प्राणिनः **कर्मणो** बध्यमानस्यान्योन्यानुगमात् परस्परं क्षीरनीरन्यायेन लोलीभावाद् **यो द्वयोरपि** जीवकर्मणोः **सम्बन्धः** संयोगः स बन्धो नाम तत्त्वमित्यर्थः । स च

चतुर्विधः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात् ।

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशो दलसञ्चयः ॥ इति

इत्यादिः स बन्धो ज्ञेयः ॥५१॥

(अव०) आस्रवद्वारप्रतिरोधः संवरः । ५७ भेदाः । तुः पुनरर्थः यो जीवस्य कर्मणा बद्धस्य परस्परं क्षीरनीरन्यायेन लोलीभावात् सम्बन्धो योगः स बन्धो नाम, प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्धा । प्रकृतिः परिणामः स्यात् ॥५१॥

निर्जरामोक्षौ चाह—

बद्धस्य कर्मणः शाटो यस्तु सा निर्जरा मता ।
आत्यन्तिको वियोगस्तु देहादेर्मोक्ष उच्यते ॥५२॥

(सो०) यः पुनर्बद्धस्य स्पृष्टबद्धनिधत्तनिकाचितादिरूपेणार्जितस्य **कर्मण**स्तपश्चरणध्यानजपादिभिः **शाटः** कर्मक्षपणं **सा निर्जरा मता** पूर्वसूरिभिरिति । सा पुनर्द्विविधा, सकामाकामभेदेन । **तु** पुनर्देहादेरा**त्यन्तिको वियोगो मोक्ष उच्यते** । स च नवविधो यथा—

संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य ।
कालो य अंतरं भागो भावो अप्पाबहुं चेव ॥

(नवतत्त्व प्रक.-४३) इति

नवप्रकारो हि करणीयः । बाह्यप्राणानामात्यन्तिकापुनर्भावित्वेनाभावः शिव इत्यर्थः । ननु सर्वथा प्राणाभावादजीवत्वप्रसङ्गः, तथा च द्वितीयतत्त्वान्तर्भूतत्वात् मोक्षतत्त्वाभाव इति चेत्; न; मोक्षे हि द्रव्यप्राणानामेवाभावः । भावप्राणास्तु नैष्कर्मिकावस्थायामपि सन्त्येव । यदुक्तम्—

यस्मात्क्षायिकसम्यक्त्ववीर्यसिद्धत्वदर्शनज्ञानैः ।
आत्यन्तिकैः स युक्तो निर्द्वन्द्वेनापि च सुखेन ॥

ज्ञानादयस्तु भावप्राणा मुक्तोऽपि जीवति स तैर्हि ।
तस्मात्तज्जीवत्वं हि नित्यं सर्वस्य जीवस्य ॥

इति सङ्गतं देहवियोगान्मोक्षः, आदिशब्दाद्देहेन्द्रियधर्म**विरहो**ऽपीति पद्यार्थः ॥५२॥

(अव०) यः पुनर्बद्धस्य स्पृष्ट-बद्ध-निधत्तनिकाचितादिरूपस्य कर्मणस्त-पश्चरण-ध्यानादिभिः शाटः क्षपणं सा निर्जरा सकामाकामभेदेन द्विधा । तुः पुनः । देहेन्द्रियधर्मादिविरहे आत्यन्तिको वियोगो मोक्षो नवविधः । ननु सर्वथा प्राणाभावादजीवत्वप्रसङ्गः, तथा मोक्षाभावः, न, द्रव्यप्राणानामेवाभावः, भावप्राणास्तु क्षायिकसम्यक्त्ववीर्यज्ञानादयो निष्कर्मावस्थायामपि सन्त्येव ॥५२॥

एवं नामोद्देशेन तत्त्वानि सङ्कीर्त्य फलपूर्वकमुपसंहारमाह-

एतानि तत्र तत्त्वानि यः श्रद्धत्ते स्थिराशयः ।
सम्यक्त्वज्ञानयोगेन तस्य चारित्रयोग्यता ॥५३॥

(सो०) एतानि पूर्वोक्तानि, **तत्र** जिनमते, **तत्त्वानि यः** कश्चित् **स्थिराशयो** दृढचित्तः सन् **श्रद्धत्ते,** अवैपरीत्येन मनुते । एतावता जानन्नपि अश्रद्दधानो मिथ्यादृगेव । यथोक्तं-श्रीगन्धिहस्तिमहातर्के—

द्वादशाङ्गमपि श्रुतं विदर्शनस्य मिथ्या इति ।

तस्य दृढमानसस्य **सम्यक्त्वज्ञानयोगेन चारित्रयोग्यता** चारित्रार्हता । सम्यक्त्वज्ञानयोगेनेति सम्यक्त्वं च ज्ञानं च सम्यक्त्वज्ञाने तयोर्योगस्तेन । ज्ञानदर्शनविनाकृतस्य हि चारित्रस्य सम्यक्चारित्रव्यवच्छेदार्थं सम्यक्त्वज्ञान-ग्रहणमिति ।

(अव०) स्थिराशयो दृढचित्तः सन् श्रद्धत्ते अवैपरीत्येन मनुते, जानन्नपि अश्रद्दधानो मिथ्यादृगेव । सम्यक्त्वं च ज्ञानं च तयोर्योगः, ज्ञानदर्शनविनाकृतस्य हि चारित्रस्य निष्फलत्वात्, सम्यक्चारित्रव्यवच्छेदार्थं सम्यग्ज्ञानग्रहणम् ॥५३॥

फलमाह–

तथा भव्यत्वपाकेन यस्यैतत् त्रितयं भवेत् ।
सम्यग्ज्ञानक्रियायोगाज्जायते मोक्षभाजनम् ॥५४॥

(**सो०**) **तथे**त्युपदर्शने । **भव्यत्वपाकेन** परिपक्वभव्यत्वेन तद्भव एवावश्यं मोक्षे गन्तव्यमिति भव्यत्वस्य परिपाकेन **यस्य पुंसः स्त्रियो वा एतत् त्रितयं** दर्शनज्ञानचारित्ररूपं **भवेत्** । यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् सोऽनुक्तोऽपि सम्बध्यत इति । स **पुमान्मोक्षभाजनं जायते** निर्वाणश्रियं भुङ्क्त इत्यर्थः । कस्मात् ? **सम्यग्ज्ञानक्रियायोगात्** । सम्यगिति सम्यक्त्वं दर्शनं, ज्ञान-मागमावबोधः, क्रिया च चरणकरणात्मिकास्तासां योगः सम्बन्धस्तस्मात् । न च केवलं दर्शनं ज्ञानं चारित्रं वा मोक्षहेतुकम् । यदाहुर्भद्रबाहुस्वामिपादाः—-

सुबहुं पि सुयमहीयं किं काही चरणविप्पमुक्कस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता दीवसयसहस्सकोडी वि ॥

तथा

नाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहीणं ।
संजमहीणं च तवं जो चरइ निरत्थयं तस्स ॥

दर्शनज्ञानचारित्राणि हि समुदितान्येव मोक्षकारणानि । यदुवाच वाचकमुख्यः- "**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**" [त० सू० १।१] ॥५४॥ इति

(**अव०**) तथेत्युपदर्शने । परिपक्वभव्यत्वेन तद्भवावश्यंमोक्षगन्तव्येन पुंसः स्त्रियो वा ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं पुमान् मोक्षभाजनं मुक्तिश्रियं भुङ्क्ते । सम्यगिति ज्ञानामागमावबोधः, क्रिया चरणकरणात्मिका, तासां योगः सम्बन्धः, न केवलं ज्ञानं दर्शनं चारित्रं वा मोक्षहेतुः किन्तु समुदितं त्रयम् ॥५४॥

प्रमाणे आह—

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वे प्रमाणे तथा मते ।
अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह ॥५५॥

(**सो०**) **तथेति** प्रस्तुतमतानुसन्धाने **द्वे प्रमाणे मते** अभिमते । के ते ? इत्याह- **प्रत्यक्षं च परोक्षं चेति** । अश्नुते अक्ष्णोति वा व्याप्नोति सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावानित्यक्षो जीवः, अश्नुते विषयमित्यक्षमिन्द्रियं च । अक्षमक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षम् । इन्द्रियाण्याश्रित्यव्यवहारसाधकं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत् प्रत्यक्षमित्यर्थः । अवधिमनःपर्यायकेवलज्ञानानि तद्भेदाश्च प्रत्यक्षमेव अत एव सांव्यवहारिकपारमार्थिकैन्द्रियिकानैन्द्रियिकादयो भेदा अनुमानादधिकज्ञानविशेष-प्रकाशकत्वादत्रैवान्तर्भवन्ति । **परोक्षं चेति** । अक्षाणां परं परोक्षम्, अक्षेभ्यः परतो वर्तत इति वा । परेणेन्द्रियादिना वोक्ष्यते परोक्षं स्मरणप्रत्यभिज्ञान-तर्का-नुमानागमभेदम् । अमुयैव भङ्ग्या मतिश्रुतज्ञाने अपि परोक्षमेवेति द्वे प्रमाणे ।

प्रमाणमुक्त्वा तद्गोचरमाह—**तुः** पुनः, **इह** जिनमते, **प्रमाणविषयः** प्रमाणयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोर्विषयो गोचरो ज्ञेय इत्याध्याहारः । किं तदित्या-शङ्कायाम**नन्तधर्मकं वस्त्व**ति । वस्तुतत्त्वं पदार्थस्वरूपम् । किंविशिष्टम् ? अनन्तधर्मकम्-अनन्तास्त्रिकालविषयत्वादपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्याया यत्रेति । अनेन साधनमपि दर्शितम् । तथा हि-तत्त्वमिति धर्मि, अनन्तधर्मात्मकत्वं साध्यो धर्मः, सत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणत्वाद्धेतोरन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धत्वात् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनम्, यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तत् सदपि न भवति यथा वियदिन्दी-वरमिति केवलव्यतिरेकी हेतुः । साधर्म्यदृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्त-त्वेनान्वयायोगात् । अनन्तधर्मात्मकत्वं चात्मनि तावत्साकारानाकारोपयोगिता कर्तृत्वं भोक्तृत्वं प्रदेशाष्टकनिश्चलता अमूर्तत्वमसङ्ख्यातप्रदेशात्मकता जीवत्व-मित्यादयः सहभाविनो धर्माः, हर्षविषादशोकसुखदुःखदेवनारकतिर्यङ्न-रत्वादयस्तु क्रमभाविनः । धर्मास्तिकायादिष्वप्यसङ्ख्येयप्रदेशात्मकत्वं गत्याद्युप-ग्रहकारित्वं मत्यादिज्ञानविषयत्वं तत्तदवच्छेदकावच्छेद्यत्वमवस्थितत्वम-रूपित्वमेकद्रव्यत्वं निष्क्रियत्वमित्यादयः । घटे पुनरामत्वं पाकजरूपादिमत्त्वं पृथुबुध्नोदरकम्बुग्रीवत्वं जलादिधारणाहरणसामर्थ्यं मत्यादिज्ञानविषयत्वं नवत्वं पुराणत्वमित्यादयः । एवं सर्वपदार्थेषु नानानयमताभिज्ञेन शाब्दानार्थांश्च पर्यायान् प्रतीत्य वाच्यम् । शब्देष्वप्युदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषनादाघोषाल्प-प्राणमहाप्राणतादयः, तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्यादयश्चावसेयाः । अस्य हेतोरनेकान्त-

प्रचण्डमुद्गराघातदलितशक्तित्वेनासिद्धविरुद्धनैकान्तिकत्वादीनां कण्टकानामनवकाश एवेत्येवंविधपर्यायानन्त्यसुभगं वस्तु जिनशासने प्रमाणविषय इत्यर्थः ॥५५॥

(अव०) तथेति प्रस्तुतमतानुसन्धाने । अश्नुते अक्ष्णोति वा व्याप्नोति सकलक्षेत्रकालभावान् इत्यक्षो जीवः । अश्नुते विषयमित्यक्षमिन्द्रियं च । अक्षमक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षम् इन्द्रियाण्याश्रित्य व्यवहारसाधकम् । अवधिमनःपर्यायकेवलानि तद्भेदाः अत एव सांव्यवहारिकपारमार्थिकेन्द्रियानिन्द्रियादयो भेदाः अनुमानाधिकविशेषप्रकाशकत्वादत्रैवान्तर्भवन्ति । अक्षाणां परं परोक्षं स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदमिति । मतिश्रुतज्ञानेऽपि परोक्षे । तुः पुनः । इह जिनमते प्रमाणयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोः विषयो गोचरः वस्तुतत्त्वं पदार्थरूपम्, अनन्ताः त्रिकालविषयत्वादपरमिता ये धर्मा सहभाविनः क्रमभाविनश्च पर्याया आत्मा स्वरूपं यस्य अनन्तधर्मकत्वं साध्यो धर्मः, सत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति साधनम्, हेतोरन्तर्व्याप्त्यैव साध्यसिद्धत्वाद् दृष्टान्तादिभिः किं प्रयोजनम् ? यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तत्सदपि न स्यात् यथा आकाशपुष्पम् । आत्मादीनां साकारानाकारोपयोगकर्तृत्वभोक्तृत्वादयो जगत्प्रसिद्धा धर्माः ॥५५॥

लक्ष्यनिर्देशं कृत्वा लक्षणमाह—

अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम् ।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया ॥५६॥

(सो०) तत्र **प्रत्यक्षमिति** लक्ष्यनिर्देशः । **अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशमिति** लक्षणनिर्देशः । परोक्षोऽक्षगोचरातीतः, ततोऽन्योऽपरोक्षस्तद्भावस्तत्ता तया साक्षात्कृततयेति यावत् । अर्य्यत इत्यर्थो गम्यत इति हृदयम्, अर्थ्यत इति वाऽर्थो दाहपाकाद्यर्थक्रियार्थिभिरभिलष्यत इति तस्य **ग्राहकं**, व्यवसायात्मकतया परिच्छेदकं यज् **ज्ञानं तदीदृशमिति** ईदृगेव **प्रत्यक्षमिति** सण्टङ्कः । अपरोक्षतयेत्यनेन परोक्षलक्षणसङ्कीर्णतामध्यक्षस्य परिहरति । तस्यासाक्षात्कारितयाऽर्थग्रहणरूपत्वादिति । **ईदृशमिति** । अमुना तु पूर्वोक्तन्यायात् सावधारणत्वेन विशेषणकदम्बकसचिवज्ञानोपदर्शनात् परपरिकल्पितलक्षणयुक्तस्य प्रत्यक्षतां प्रतिक्षिपति । एवं च यदाहुः "**इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञान-**

मव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।" (गौतमसू. १.१.४) तथा "**सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम् ।**" (मीमांसा. १.१.४) इत्यादि । तदयुक्तमित्युक्तं भवति । अपूर्वप्रादुर्भावस्य प्रमाणबाधितत्वादत्यन्तासतां शशविषाणादीनामप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । तस्मादिदमात्मरूपतया विद्यमानमेव विशेषकृद्धेतुकलापसन्निधानात् साक्षादर्थग्रहणपरिणामरूपतया विवर्तते, तथा चोत्पन्नजन्मरूपादिविशेषणं न सम्भवेत् । अथैवंविधार्थसूचकमेवैतदित्याचक्षीथास्तथा सत्यविगानमेवेत्यास्तां तावत् ।

अधुना परोक्षलक्षणं दर्शयति-**इतरदित्यादि** । अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानं प्रत्यक्षमुक्तम्, तस्मादितरदसाक्षादर्थग्राहकं **ज्ञानं परोक्षमिति ज्ञेयम**वगन्तव्यम् । तदपि स्वसंवेदनापेक्षतया प्रत्यक्षमेव, बहिरर्थापेक्षया तु परोक्षव्यपदेशमश्नुत इति दर्शयान्नाह-**ग्रहणेक्षयेति** । इह ग्रहणं प्रक्रमाद्बहिः प्रवर्त्तनमुच्यते, अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यात्, तस्येक्षा अपेक्षा तया बहिः प्रवृत्तिपर्यालोचनयेति यावत् । तदयमर्थो-यद्यपि स्वयं प्रत्यक्षं तथापि लिङ्गशब्दादिद्वारेण बहिर्विषयग्रहणे असाक्षात्कारितया व्याप्रियत इति परोक्षमित्युच्यत इत्यर्थः ॥५६॥

(अव०) अक्षगोचरातीतः परोक्षः तदभावोऽपरोक्षः तया साक्षात्कारितया अर्थस्य वस्तुनो ग्राहकम् ईदृगेव ज्ञानं प्रत्यक्षम्, अन्यथोक्तप्रत्यक्षनिषेधः । इतरद साक्षात्कारितया स्वसंवेदनबहिःपर्यालोचनया परोक्षम् ॥५६॥

पूर्वोक्तमेव वस्तुतत्त्वमनन्तधर्मात्मकतया दृढयन्नाह—

येनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्सत्तदिष्यते ।
अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचरः ॥५७॥

(सो०) येन कारेणन **यदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तत्सत्**स्वरूपमि**ष्यते** तेन कारणे**नानन्तधर्मकं वस्तु मानगोचरः** प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणविषय **उक्तं** कथितमिति सम्बन्धः । उत्पादश्च व्ययश्च ध्रौव्यं च उत्पादव्ययध्रौव्याणि, तेषां युक्तं मेलस्तदेव सत्त्वमिति प्रतिज्ञा । इष्यते केवलज्ञानिभिरभिलष्यत इति ।

वस्तुतत्त्वं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् । तथा हि-उर्वीपर्वततर्वादिकं सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते विपद्यते वा परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात्—

सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ॥

इति वचनात् । ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः, पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते च, अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् । न चैवं शुक्लशङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात् । न खलु सोऽस्खलद्रूपो येन पूर्वाकारविनाशोऽजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्परानुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्बाधकस्याभावात् । ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते न वा । यदि भिद्यन्ते; कथमेकं वस्तु त्रयात्मकम् । न भिद्यन्ते चेत्; तथापि कथमेकं वस्तु त्रयात्मकम् । तथा च—

यद्युत्पादादयो भिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ।
अथोत्पत्त्यादयोऽभिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ॥

इति चेत्; तदयुक्तम्; कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात् । तथा हि-उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि; भिन्नलक्षणत्वात् रूपादिवत् । न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्, असत आत्मलाभः, सतः सत्त्वाविप्रयोगो द्रव्यरूपतयानुवर्त्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परसङ्कीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव । न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथा ह्युत्पादः केवलो नास्ति स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः केवलो नास्ति स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्तद्वत् । एवं स्थितिः केवला नास्ति विनाशोत्पादशून्यत्वात् तद्वदेव, इत्यन्योन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा चोक्तं—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वलम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।। इति

[आप्तमी० ५९-६०]

व्यतिरेकश्च यदुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं न भवति, तद्वस्त्वेव न, यथा खरविषाणं यथेवं तथेदमिति । अत एवानन्तधर्मकं वस्तु मानगोचरः प्रोक्तम् । अनन्ता धर्माः पर्यायाः सामान्यविशेषलक्षणा यत्रेत्यनन्तधर्मकं वस्त्विति । उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्यैवानेकधर्मकत्वं युक्तियुक्ततामनुभवतीति ज्ञापनायैव, भूयोऽनन्तधर्मकपदप्रयोगो, न पुनः पाश्चात्यपद्योक्तानन्तधर्मकपदेन पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयमिति पद्यार्थः ग्रन्थस्य बालावबोधार्थफलत्वाद् ।।५७।।

(अव०) येन कारणेन यद् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं तत् सत् सत्त्वरूपमुच्यते तेन कारणेन अनन्तधर्मकं वस्तु प्रमाणगोचरः । सर्ववस्तुषु उत्पत्तिविपत्तिसत्तासद्भावात् उत्पत्त्यादित्रययुक्तस्यैवानन्तधर्मता तेनैव पुनरनन्तधर्मात्मकत्वमुक्तं न पौनरुक्त्यम् ।।५७।।

अथोपसंहरन्नाह—

जैनदर्शनसङ्क्षेप इत्येष कथितोऽनघः ।
पूर्वापरविघातस्तु यत्र क्वापि न विद्यते ।।५८।।

(सो०) इति पूर्वोक्तप्रकारेण, **एष** प्रत्यक्षलक्ष्यो **जैनदर्शनसङ्क्षेपः कथितः**, विस्तरस्यागाधत्वेन वक्तुमगोचरत्वात् । उपयोगसारः सङ्क्षेपो निवेदितः । किम्भूतोऽनघो निर्दूषणः सर्ववक्तव्यस्य सर्वज्ञमूलत्वेन दोषकालुष्यानवकाशात् । तुः समुच्चयार्थे । **यत्र** पुनः **पूर्वापरविघातः क्वापि न विद्यते**, पूर्वस्मिन्नादौ परस्मिन् प्रान्ते च विघातो विरुद्धार्थता यत्र दर्शने क्वापि पर्यन्तग्रन्थेऽपि परस्परविसंवादो नास्ति । आस्तां तावत्केवलिभाषितेषु द्वादशाङ्गेषु पारम्पर्यग्रन्थेष्वपि सुसम्बद्धार्थत्वाद् विरुद्धार्थदौर्गन्ध्याभावः । अयं भावो-यत् परतैर्थिकानां मूलशास्त्रेष्वपि न युक्तियुक्ततां पश्यामः किं पुनः पाश्चात्यविप्रलम्भकग्रथितग्रन्थकथासु, यच्च क्वापि कारुण्यादिपुण्यकर्मपुण्यानि च वचांसि कानिचिदाकर्णयामस्तान्यपि त्वदुक्तसूक्तसुधापयोधिमन्थोद्गतान्येव

रत्नानीव सङ्गृह्य स्वात्मानं रत्नपतय इव बहु मन्वाना मुधा प्रगल्भन्ते यदाहुः श्रीसिद्धसेनदिवाकरपादाः—

सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु
स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तिसंपदः ।
तथैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता
जगत्प्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः ॥५८॥ इति परमार्थः ।

(अव०) जिनदर्शनस्य सङ्क्षेपः प्रोक्तः विस्तरस्य अगाधत्वेन वक्तुमगोचरत्वात् । अनघो निर्दूषणः सर्वज्ञमूलत्वात् । तुः पुनः समुच्चये, आदौ प्रान्ते च परस्परविरुद्धार्थता यत्र न; आस्तां केवलिप्रणीते छद्मस्थप्रणीतेऽप्यङ्गादिके न दोषलवः परेषां शास्त्राणि परस्परविरोधाघ्रातत्वेन व्याघ्रा इव दुःशक्या कर्णे धर्तुम् ॥५८॥

अथ वैशेषिकमतस्य देवतादिसाम्येन नैयायिकेभ्यो ये विशेषं न मन्यन्ते तान् बोधयन्नाह—

देवताविषये भेदो नास्ति नैयायिकैः समम् ।
वैशेषिकाणां तत्त्वेषु विद्यतेऽसौ निदर्श्यते ॥५९॥

(सो०) शिवदेवतासाम्येऽपि, तत्त्वादिविशेषविशिष्टत्वाद् वैशेषिकास्तेषां **वैशेषिकाणां** काणादानां **नैयायिकै**राक्षपादैः **समं** **सार्द्धं** **देवताविषये** शिवदेवताभ्युपगमे **भेदो** विशेषो **नास्ति, तत्त्वेषु** शासनरहस्येषु भेदो **विद्यते** । तुशब्दोऽध्याहार्यः । **असौ** विशेषो नैयायिकेभ्यः पृथग्भावो **निदर्श्यते** प्रकाश्यत इत्यर्थः ।

(अव०) वैशेषिकाणां काणादानां नैयायिकैः समं शिवदेवविषयो भेदो नास्ति तत्त्वेषु शासनरहस्येषु तु भेदो निदर्श्यते ॥५९॥

तान्येव तत्त्वान्याह—

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं च चतुर्थकम् ।
विशेषसमवायौ च तत्त्वषट्कं हि तन्मते ॥६०॥

(**सो०**) **तन्मते** वैशेषिकमते **हि** निश्चयेन **तत्त्वषट्कं** ज्ञेयमिति सम्बन्धः । कथमित्याह—**द्रव्यं गुण** इत्यादि । आदिमतत्त्वं **द्रव्यं** नाम, भेदबाहुल्येऽपि सामान्यादेकम् । द्वितीयतत्त्वं **गुणो** नाम तथेति भेदान्तरसूचने । तृतीयं तत्त्वं **कर्म**सञ्ज्ञम् । **चतुर्थकं च** तत्त्वं **सामान्यम्** । चतुर्थमेव चतुर्थकं स्वार्थे कः प्रत्ययः । **चः** समुच्चये । अन्यच्च **विशेषसमवायौ** विशेषश्च समवायश्चेति द्वन्द्वः । इति तद्दर्शने तत्त्वानि षड् ज्ञेयानि ॥६०॥

(**अव०**) तन्मते वैशेषिकमते तु निश्चितं च तत्त्वषट्कम्, नामानि सुगमार्थानि ॥६०॥

भेदानाह—

तत्र द्रव्यं नवधा भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि ।
कालदिगात्ममनांसि च, गुणाः पुनश्चतुर्विंशतिधा ॥६१॥

स्पर्शरसरूपगन्धाः शब्दः सङ्ख्या विभागसंयोगौ ।
परिमाणं च पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च ॥६२॥

बुद्धिः सुखदुःखेच्छा धर्माधर्मौ प्रयत्नसंस्कारौ ।
द्वेषः स्नेहगुरुत्वे द्रवत्ववेगौ गुणा एते ॥६३॥

(**सो०**) नवद्रव्याणि चतुर्विंशतिगुणाश्च, निगदसिद्धान्येव । संस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापकभेदात् त्रिविधत्वेऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षयैकत्वम् । शौर्य्यौदार्यादीनां च गुणानामेष्वेष चतुर्विंशतिगुणेष्वन्तर्भावान्नाधिक्यम् ॥६१-६३॥

(**अव०**) नवविधं द्रव्यं पञ्चविंशतिगुणाश्च निगदसिद्धान्येव संस्कारस्य वेगभावनास्थिततिस्थापकभेदात् त्रैविध्येऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वम् । शौर्यौदार्यादीनां गुणानामेष्वेवान्तर्भावात् नाधिक्यम् ॥६१-६३॥

कर्मसामान्यभेदानाह—

उत्क्षेपावक्षेपावाकुञ्चनकं प्रसारणं गमनम् ।
पञ्चविधं कर्मैतत् परापरे द्वे तु सामान्ये ॥६४॥

(सो०) पञ्चापि कर्मभेदाः स्पष्टा एव । गमनग्रहणाद् भ्रमणरेचन-स्यन्दनाद्यविरोधः । **तुः** पुनः, **सामान्ये द्वे** द्विसङ्ख्ये । के ते इत्याह—**परापरे** । परं चापरं च परापरे, परसामान्यमपरसामान्यं चेत्यर्थः ॥६४॥

(अव०) पञ्चापि कर्मभेदाः स्पष्टा एव । गमनग्रहणाद् भ्रमण-रेचनस्यन्दनाद्यविरोधः । तुः पुनः सामान्ये द्वे परसामान्यमपरसामान्यम् चेत्यर्थः ॥६४॥

एतद् व्यक्तं विशेषव्यक्तिं चाह—

तत्र परं सत्ताख्यं द्रव्यत्वाद्यपरमथ विशेषस्तु ।
निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिशेत् ॥६५॥

(सो०) **तत्र** तयोर्मध्ये **परं सत्ता** भावो महासामान्यमिति चोच्यते, द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यापेक्षया महाविषयत्वात् । **अपरसामान्यं द्रव्यत्वादि,** एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते । तथा हि - द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात्सामान्यम्, गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः, ततः कर्मधारये सामान्य-विशेष इति । एवं द्रव्यत्वाद्यपेक्षया पृथिवीत्वादिकमपरं तदपेक्षया घटत्वादिकम्। एवं चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्वं सामान्यं द्रव्यकर्मभ्यो व्यावृत्तेश्च विशेषः । एवं गुणत्वापेक्षया रूपत्वादिकं तदपेक्षया नीलत्वादिकम् । एवं पञ्चसु कर्मसु वर्तमानत्वात् कर्मत्वं सामान्यं, द्रव्यगुणेभ्यो व्यावृत्तत्वाद्विशेषः । एवं कर्मत्वापेक्षयोत्क्षेपणत्वादिकं ज्ञेयम् । तत्र सत्ता द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं, कया युक्त्येति चेत्, उच्यते-न द्रव्यं सत्ता, द्रव्यादन्येत्यर्थः, एकद्रव्यत्वाद् एकैकस्मिन् द्रव्ये वर्तमानत्वादित्यर्थः द्रव्यत्ववद्, यथा द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु प्रत्येकं वर्तमानं द्रव्यं न भवति, किन्तु सामान्यविशेषलक्षणं द्रव्यत्वमेव, एवं सत्तापि । वैशेषिकाणां हि-अद्रव्यं वा द्रव्यम्, अनेकद्रव्यं वा द्रव्यम् । तत्राद्रव्यं

द्रव्यमाकाशं दिगात्मा कालो मनः परमाणवः, अनेकद्रव्यं तु द्व्यणुकादिस्कन्धाः, एकद्रव्यं तु द्रव्यमेव न भवति, एकद्रव्यवती च सत्ता इति द्रव्यलक्षण-विलक्षणत्वान्न द्रव्यम् । एवं न गुणः सत्ता, गुणेषु भावाद् गुणत्ववत् । यदि हि सत्ता गुणः स्यात् न तर्हि गुणेषु वर्तेत, निर्गुणत्वाद् गुणानाम्, वर्तते च गुणेषु सत्ता, 'सन् गुण' इति प्रतीतेः । तथा न सत्ता कर्म, कर्मसु भावात्, कर्मत्ववत् । यदि च सत्ता कर्म स्यान्न तर्हि कर्मसु वर्तेत, निष्कर्मत्वात्कर्मणाम्, वर्तते च कर्मसु भावः, सत्कर्मेति प्रतीतेः । तस्मात् पदार्थान्तरं सत्ता । अथ विशेषपदार्थमाहार्याद्धेन-**विशेषस्त्विति । निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिशेत्** । विनिर्दिशेत् कथयेद् आचार्य इति ज्ञेयम् । कथमित्याह-**अन्त्यो विशेषो नित्यद्रव्यवृत्तिरिति** । तथा हि - नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवस्ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात् पदार्थान्तरम् । तथा च प्रशस्तकारः, (पादः) **अन्तेषु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयविशेषकत्वाद्विशेषाः विनाशारम्भ-रहितेषु नित्यद्रव्येष्वण्वाकाशकालदिगात्ममनःसु प्रतिद्रव्यमेकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः । यथा अस्मदादीनां गवादिष्वश्वादिभ्य-स्तुल्याकृतिक्रियावयवोपचया-पचयवयवविशेषसंयोगनिमित्ता प्रत्यय-व्यावृत्तिर्दृष्टा - 'गौः शुक्लःपीतः शीघ्रगतिः ककुद्मान् महाघण्ट' इति, तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनःसु चान्यनिमित्ताऽसम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयमिति प्रत्ययव्यावृत्तिर्देशकाल-विप्रकर्षदृष्टे च परमाणौ स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानं च भवति तेऽन्त्या विशेषाः''** [प्रशस्त० भा० पृ १६८] इति । अमी च विशेषा एव, न तु द्रव्यत्वादिवत् सामान्यविशेषोभयरूपा व्यावृत्तेरेव हेतुत्वादित्यर्थः ।

(अव०) एतद् व्यक्तं विशेषव्यक्तिं चाह-तत्र परं सत्ता भावो महासामान्यम्, अपरसामान्यं च द्रव्यत्वादि, एतच्च सामान्यविशेष इत्यपि व्यपदिश्यते । तथाहि द्रव्यत्वं नवसु द्रव्येषु वर्तमानत्वात् सामान्यं गुणकर्मव्यावृत्तत्वाद् विशेषः । एवं द्रव्यत्वापेक्षया पृथिवीत्वादिकमपरं तदपेक्षया घटत्वादिकम् । चतुर्विंशतौ गुणेषु वृत्तेर्गुणत्वं सामान्यं द्रव्यकर्मभ्यो निवृत्तेश्च विशेषः । गुणत्वापेक्षया नीलरूपत्वादिकम् । एवं कर्मादीन्यपि । नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा अत्यन्तव्यावृत्तिहेतवः । ते द्रव्यादिवैलक्षण्यात् पदार्थान्त

रम् । अन्तेषु भवा अन्त्याः, स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषाः । गवादिषु अश्वादिभ्यः तुल्याकृतिक्रियावयवोपचयसंयोगविलक्षणोऽयं प्रत्ययव्यावृत्तिर्विशेषः ॥६५॥

समवायपदार्थव्यक्तिलक्षणमाह—

य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम् ।
सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः प्रोक्तः स समवायः ॥६६॥

(सो०) इह प्रस्तुतमते, **अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानामिह प्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवायः** । यथेह तन्तुषु पट इत्यादेः प्रत्ययस्यासाधारणं कारणं समवायः । यद्वशात् स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमानं पटाद्याधार्यं तन्त्वाद्याधारे सम्बध्यते, यथा छिदिः **क्रिया** छेद्येनेति । **अयुतसिद्धानामिति** । परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयानाश्रितानामाश्रयाश्रयिभाव इति । परस्परवैधर्म्यं तु विविक्तैरभ्यूह्यम्, षण्णामपि पदार्थानां स्वरूपकथनमात्राधिकृतत्वाद् ग्रन्थस्य नेह प्रतन्यत इति ॥६६॥

(अव०) इह प्रस्तुतमते अयुतसिद्धानां परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयानाश्रितानाम् आधार्याधारभूतानामिह प्रत्ययहेतुः सम्बन्धो यः य समवायः । इह तन्तुषु पट इत्यादौ समवायः । स्वकारणसामर्थ्यादुपजायमानं पटाद्याधार्यं तन्वाद्याधारे सम्बध्यते यथा छिदिक्रिया छेद्येनेति । षण्णामपि पदार्थानां स्वरूपकथनमात्राधिकृतत्वात् ग्रन्थस्य नेह प्रतन्यते विस्तरः ॥६६॥

प्रमाणव्यक्तिमाह—

प्रमाणं च द्विधामीषां प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा ।
वैशेषिकमतस्यैवं सङ्क्षेपः परिकीर्तितः ॥६७॥

(सो०) यद्यप्यौलूक्यशासने व्योमशिवाचार्योक्तानि त्रीणि प्रमाणानि, तथापि श्रीधरमतापेक्षयात्रोभे एव निगदिते । **अमीषां** वैशेषिकाणां **प्रमाणं द्विधा** द्विप्रकारम् । **चः** पुनरर्थे । कथमित्याह **प्रत्यक्ष**मेकं प्रमाणं, **तथे**ति द्वितीयभेदपरामर्शे, **लैङ्गिक**मनुमानम् । उपसंहरन्नाह—**एव**मिति । एवमिति

प्रकारसूचनं, यद्यपि प्रमातृफलाद्यपेक्षया बहु वक्तव्यं, तथाप्येवममुना प्रकारेण **वैशेषिकमतस्य सङ्क्षेपः परिकीर्तितः** कथित इति ॥६७॥

(**अव०**) यद्यप्यौलूक्यशासने व्योमशिवाचार्योक्तानि त्रीणि प्रमाणानि तथापि श्रीधरमतापेक्षयाऽत्रोभे एव निगदिते । चः पुनरर्थे । अमीषां वैशेषिकाणां प्रमाणं द्विधा-प्रत्यक्षमेकम् लैङ्गिकमनुमानं द्वितीयम् । एवमिति प्रकारवचनम् । यद्यपि प्रमातृफलाद्यपेक्षया बहु वक्तव्यं तथाप्येवममुना पूर्वोक्तप्रकारेण वैशेषिकमतस्य सङ्क्षेपः परिकीर्तितः कथितः ॥६७॥

षष्ठं दर्शनमाह—

जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादिविशेषणः ।
देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवेत् ॥६८॥

(**सो०**) जैमिनिमुनेरमी इति **जैमिनीयाः**, पुत्रपौत्राद्यर्थे तद्धित ईयप्रत्ययः । जैमिनिशिष्याश्चैके उत्तरमीमांसावादिनः, एके पूर्वमीमांसावादिनः । तत्रोत्तरमीमांसावादिनो वेदान्तिनस्ते हि केवलब्रह्माद्वैतवादसाधनव्यसनिनः शब्दार्थखण्डनाय युक्तीः खेटयन्तोऽनिर्वाच्यतत्त्वे व्यवतिष्ठन्ते । यदाहुः—

अन्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्ततः ।
नान्तर्भावितसत्त्वं चेत्कारणं तदसत्ततः ॥
यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा ।
यद्येतत्स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥
एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् ।
आस्ते न वीरधीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु ॥

एवं वादिप्रतिवादिनोः

समस्तलोकशास्त्रैकमत्यमाश्रित्य नृत्यतोः ।
का तदस्तु गतिस्तद्वद्वस्तुधीव्यवहारयोः ॥
उपपादयितुं तैस्तैर्मतैरशकनीययोः ।
अनिर्वक्तव्यतावादपादसेवा गतिस्तयोः ॥

इत्यादिप्रलय-कालानिल-क्षुभित-चरम-सलिल-राशि-कल्लोल-मालानुकारिणः परब्रह्माद्वैत-साधक-हेतूपन्यासाः प्रोच्छलन्तश्चतुरचमत्कारं जनयन्तः क्व पर्यवस्यन्ति तास्तु युक्तयः सूत्रकृतानुल्लिङ्गितत्वाद् ग्रन्थविस्तरभयाच्च नेह प्रपच्यन्ते, अभियुक्तैस्तु खण्डनमहातर्कादवसेयाः । पूर्वमीमांसावादिनश्च द्विधा प्राभाकरा भाट्टाश्च क्रमेण पञ्चषट्प्रमाणप्ररूपकाः । अत्र तु सामान्येन सूत्रकृत् पूर्वमीमांसावादिन एव जैमिनीयानुद्दिष्टवान् । ते पुनर्जैमिनीयाः, **प्राहुः** कथयन्ति, कथमित्याह—**सर्वज्ञादिविशेषणः कोऽपि देवो न विद्यते यस्य वचो** वचनं **मानं** प्रमाणं **भवेत्** । सर्वज्ञादिविशेषण इति । सर्वज्ञादिना गुणेन विशेष्य इति । आदिशब्दाद्विभुत्वनित्यत्वचिदात्मकत्वादिगुणविशिष्टः कोऽपि देवो नास्ति यद्वचनं प्रमाणतामनुभवेत्, मानुषतनुत्वाविशेषेण विप्रलम्भकत्वाद् दुष्टपुरुषवत् । सर्वज्ञादि-गुणविशिष्टपुरुषाद्यभाव इत्यर्थः । अथ किङ्करायमाण-सुरासुरसेव्यमानताद्युपलक्षणेन त्रैलोक्यसाम्राज्यसूचकच्छत्रचामरादिविभूत्यन्यथानुपपत्तेश्चास्ति कश्चित् पुरुषविशेषः सर्वज्ञ इति चेत्; त्वद्यूथ्योक्तवचनप्रपञ्चोपन्यासैरेव निरस्तत्वात् । यथा—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ [आप्तमी. १]

अथ यथानादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिप्रक्रियया शोध्यमानस्य निर्मलत्वमेवमात्मनोऽपि निरन्तरज्ञानाद्यभ्यासेन विगतमलत्वं किं न सम्भवेदिति मतिः, तदपि न, न ह्यभ्यासमात्रसाम्ये शुद्धेरपि तदेव तादवस्थ्यम् । यदुक्तम्—

गरुत्मच्छाखामृगयोर्लङ्घनाभ्याससम्भवे ।
समानेऽपि समानत्वं लङ्घनस्य न विद्यते ॥

न च सुतरां चरणशक्तिमानपि पङ्गुरखर्वपर्वतशिखरमधिरोढुं क्षमः । उक्तञ्च—

दशहस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न योजनशतं गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥

अथ मा भवतु मानुषस्य सर्वज्ञत्वं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीनामस्तु । ते हि देवाः, सम्भवत्यपि तेष्वतिशायिसम्पत् । यदाह कुमारिलः—

अथापि वेददेहत्वाद् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम् ॥

एतदपि न; रागद्वेषमूलनिग्रहानुग्रहग्रस्तानामसम्भाव्यमिदमेषामिति । न च प्रत्यक्षं तत्साधकम्, **'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना'** (मी० प्रत्य० श्लो० ८४) इति वचनात् । न चानुमानम्, प्रत्यक्षदृष्ट एवार्थे तत्प्रवृत्तेः । न चागमः, सर्वज्ञस्यासिद्धत्वेन तस्यापि विवादास्पदत्वात् । न चोपमानम्, तदभावादेव । अर्थापत्तिरपि न; सर्वज्ञसाधकस्यान्यथानुपपन्नलिङ्गस्यादर्शनात् । यदि परमभावप्रमाणगोचरः सर्वज्ञ इति स्थितम् । प्रयोगश्चात्र-नास्ति सर्वज्ञः, प्रत्यक्षादिगोचरातिक्रान्तत्वात्, शशशृङ्गवदिति ॥६८॥

(अव०) षष्ठं दर्शनमाह-जैमिनिमुनेरमी जैमिनीयाः, पुत्रपौत्राद्यर्थे तद्धित ईयप्रत्ययः । जैमिनिशिष्याश्चैके पूर्वमीमांसावादिनः, एके उत्तरमीमांसावादिनो ते हि पुरुषाद्वैतवादसाधनव्यसनिनः शब्दार्थखण्डकाः । पूर्वमीमांसावादिनो द्विधा प्राभाकराः-भट्टाश्च क्रमेण पञ्चषट्प्रमाणप्ररूपकाः । अत्र तु सामान्येनैव सूत्रकृत् पूर्वमीमांसावादिन एव जैमिनीयानुद्दिष्टवान् । तन्मते प्राहुः- सर्वज्ञत्वादिविशेषणोपपन्नः कोऽपि नास्ति मानुषत्वाविशेषेण विप्रलम्भकत्वात् (**सर्वज्ञत्वादिविशिष्टपुरुषाद्यभावः**) यदुक्तं प्रमाणं भवेद् वाक्यम् । अथ कथं यथावस्थिततत्वनिर्णयः ? ॥६८॥

अथ कथं यथावस्थिततत्त्वनिर्णय इत्याह—

तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद् द्रष्टुरभावतः ।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिश्चयः ॥६९॥

(सो०) **तस्मात्**प्रामाणिकपुरुषाभावा**दतीन्द्रियार्थानां** चक्षुरगोचरपदार्थानां **साक्षाद् द्रष्टु**र्ज्ञातुः सर्वज्ञादेः पुरुषस्या**भावाद् नित्येभ्यः** शाश्वतेभ्यो **वेदवाक्येभ्यो**ऽपौरुषेयवचनेभ्यो **यथार्थत्व**विनिर्णयो यथावस्थितपदार्थधर्मादिस्वरूप-विवेचनं 'भवति' इत्यध्याहारः । अपौरुषेयत्वं च वेदानाम्—

अपाणिपादो ह्यमनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

(श्वेताश्वतरो० ३.१.९)

इत्यादिभावनया रागद्वेषादिदोषतिरस्कारपूर्वकं भावनीयमिति ॥६९॥

(अव०) तस्मात् प्रामाणिकपुरुषाभावात् अतीन्द्रियार्थानां चक्षुराद्यगोचरपदार्थानां साक्षाद् दर्शकस्य सर्वज्ञादेः पुरुषस्याभावात् नित्येभ्यः शाश्वतेभ्यो वेदवाक्येभ्योऽपौरुषेय-वचनेभ्यो यथावस्थितपदार्थधर्मादिस्वरूपविवेचनं भवतीत्यध्याहारः ॥६९॥

अथ यथावस्थितार्थव्यवस्थापकं तत्त्वोपदेशमाह—

अत एव पुरा कार्यो वेदपाठः प्रयत्नतः ।
ततो धर्मस्य जिज्ञासा कर्त्तव्या धर्मसाधनी ॥७०॥

(सो०) यतो हेतोर्वेदाभिहितानुष्ठानादेव तत्त्वनिर्णयः, **अत एव पुरा** पूर्वं **प्रयत्नतो** यत्नाद्वे**दपाठः कार्यः** ऋग्यजुःसामाथर्वाणो वेदास्तेषां पाठः कण्ठपीठलुठत्पाठप्रतिष्ठा, नानुश्रवणमात्रेण सम्यगवबोधस्थिरता, ततोऽनन्तरं साधनीयपुण्योपचयहेतु**र्धर्मस्य** हेयोपादेयस्वरूपस्य वेदाभिहितस्य **जिज्ञासा** ज्ञातुमिच्छा **कर्तव्या** विधेया वेदोक्ताभिधेयविधाने यतितव्यमित्यर्थः ॥७०॥

(अव०) अथ यथावस्थितत्वार्थस्थापकं तत्त्वोपदेशमाह-अत एव यतो हेतोः वेदाभिहिततत्त्वानुष्ठानादेव तत्त्वनिर्णयः । अत एव पुरा पूर्वं प्रयत्नाद् वेदपाठः कार्यः, ऋग्यजुःसामाथर्वणवेदानां पाठः कण्ठपीठालोचनं न तु श्रवणमात्रेण, ततोऽनन्तरं धर्मसाधना पुण्योपचयहेतुः । धर्मस्य हेयोपादेयस्वरूपस्य वेदाभिहितस्य ज्ञातुमिच्छा कर्त्तव्या वेदोक्ताभिधेयविधाने यतितव्यमित्यर्थः ॥७०॥

वेदोक्तधर्मोपदेशमेवाह—

नोदनालक्षणो धर्मो, नोदना तु क्रियां प्रति ।
प्रवर्तकं वचः, प्राहुः स्वःकामोऽग्निं यजेद्यथा ॥७१॥

(सो०) नोदनैव लक्षणं यस्य स **नोदनालक्षणो धर्मः** । तत्स्वरूपमेव सूत्रकृदाह । **तुः पुनर्नोदना क्रियां प्रति प्रवर्तकं वचः प्राहुः** । वेदोक्तस्वर्गादि-साधकाम्नायस्य क्रियाप्रवर्तकं वचनं नोदनामाहुरित्यर्थः । शिष्यानुकम्पया

तत्सूत्रेणैव दृष्टान्तयन्नाह—**स्वःकामोऽग्निं यजेद्यथा** । यथा येन प्रकारेण स्वःकामः स्वर्गाभिलाषी जनोऽग्निं यजेद् अग्निकार्यं कुर्यात् । यथाऽहुस्तत्सूत्रम्-"**अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम**" इति ॥७१॥

(**अव०**) नोदनैव लक्षणं यस्य स नोदनालक्षणः । तुः पुनः नोदना क्रियां प्रति प्रवर्तकं वचः, वेदोक्तं भवति, नोदना पुनः क्रियां हवनसर्वभूताहिंसनदानादि-प्रतिक्रियां प्रति प्रवर्तकं प्रेरकं वचो वेदवचनं प्राहुः मीमांसका भाषन्ते । हवनादिक्रियाविषये यदेव प्रेरकं वेदस्य वचनं सैव नोदनेति भावः । प्रवर्तकं तद्वचनमेव निदर्शनेन दर्शयति स्वःकामोऽग्निं यजेदिति । अथेति उपदर्शनार्थः । स्वः स्वर्गे कामना यस्य स स्वःकामः पुमान् स्वःकामः सन् अग्निं वह्निं यजेत् तर्पयेत् । अत्रेदं श्लोकबन्धानुलोम्येनेत्थमुपन्यस्तम्, अन्यथा त्वेवं भवति-अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति । प्रवर्तकवचनस्योपलक्षणत्वात् निवर्तकमपि वेदवचनं नोदना ज्ञेया, यथा न हिंस्यात् सर्वभूतानि । [अथ प्रमाणस्य विशेषलक्षणं विवक्षुः प्रथमं तन्नामानि तत्सङ्ख्यां चाह, प्रत्यक्षानुमानशब्दोपमानार्थापत्त्यभावलक्षणानि षट् प्रमाणानि जैमिनिमुनेः सम्मतानीत्यध्याहारः । चकारः समुच्चयार्थः । तत्राद्यानि पञ्चैव प्रमाणानीति प्राभाकरोऽभावस्य प्रत्यक्षेणैव ग्राह्यतान्नन्यमानोऽभिमन्यते षडपि तानि ते भट्टो भाषते । तत्र प्रमाणषट्कम् अक्षाणामिन्द्रियाणां वेदोक्तस्वर्गसाधकाम्नायस्य क्रियाप्रवर्त्तकं वचनं नोदना तामाहुः दृष्टान्तेन स्पष्टयति] ॥७१॥

प्रमाणान्याह—

प्रत्यक्षमनुमानं च शब्दश्चोपमया सह ।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः ॥७२॥

(**सो०**) **जैमिनेः** पूर्ववेदान्तवादिनः, **षट् प्रमाणानि** ज्ञेयानीति सम्बन्धः । यद्यपि प्राभाकराणां मते पञ्च प्रमाणानि, भाट्टानामेव षट्, तथाप्यत्र ग्रन्थकृत्सामान्यतः षट् सङ्ख्यामाचष्टे । प्रमाणनामानि निगदसिद्धान्येव ॥७२॥

(**अव०**) प्रमाणान्याह । जैमिनेः षट् प्रमाणानि ज्ञेयानि, यद्यपि प्रभाकराणां

[ ] एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठोऽत्रासङ्गतो भासते ।

मते पञ्च, भाट्टानां षट्; तथापि ग्रन्थकृत् सामान्यतः षट् सङ्ख्यामाचष्टे । प्रमाणनामानि निगदप्रसिद्धान्येव ॥७२॥

निरुक्तमाह—

तत्र प्रत्यक्षमक्षाणां सम्प्रयोगे सतां मतिः ।
आत्मनो बुद्धिजन्मेत्यनुमानं लैङ्गिकं पुनः ॥७३॥

(सो०) तत्र प्रमाणषट्के, **अक्षाणा**मिन्द्रियाणां, **सम्प्रयोगे** पदार्थैः सह संयोगे, **सताम**नुपहितेन्द्रियाणां या **मति**र्बुद्धिरिदमित्यवबोधः, तत्**प्रत्यक्षं** प्रमाणं 'भवति' इत्यध्याहारः । यत्तदावनुक्ताप्यर्थसम्बन्धात् ज्ञेयौ । **सता**मिति-विदुषामदुष्टेन्द्रियाणामित्यर्थः । एतावता मरुमरीचिकायां जलभ्रमः, शुक्तौ रजतभ्रमश्चेन्द्रियार्थसम्प्रयोगजोऽपि द्रष्टुरविकलेन्द्रियत्वाभावान्न प्रत्यक्षं तत्प्रमाण-कोटिमधिशेते । अनुमानमाह—**आत्मनो बुद्धिजन्मेत्यनुमानं लैङ्गिकं पुनः** । आत्मा यदनुमिमीते स्वयं तदनुमानमित्यर्थः । अनुमानलैङ्गिकयोः शाब्द-भेदेऽप्यनुमीयत इत्यनुमानं लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकमिति व्युत्पत्तिभेदाद्भेदो ज्ञेय उभयशब्दकथनं तु बालावबोधार्थमेवेति ॥७३॥

(अव०) अथ प्रत्यक्षप्रमाणस्य लक्षणमाचष्टे-तत्र प्रमाणषट्के अक्षाणा-मिन्द्रियाणां प्रयोगे पदार्थैः सह संयोगे या बुद्धिरिदमिदमित्यवबोधः तत्प्रत्यक्षम् । सत्तामदुष्टेन्द्रियाणामिति । एतावता मरुमरीचिकायां जलभ्रमः शुक्तौ रजतभ्रमश्च इन्द्रियार्थसम्प्रयोगेऽपि द्रष्टुरविकलेन्द्रियत्वाभावान्न प्रत्यक्षं प्रमाणम् । आत्मा यद्यदनुमिमीते स्वयं तदनुमानमित्यर्थः । लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकम् । व्युत्पत्तिभेदाद्भेदः । उभयशब्दकथनं बालावबोधार्थम् ॥७३॥

शाब्दं शाश्वतवेदोत्थमुपमानं प्रकीर्तितम् ।
प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यादप्रसिद्धस्य साधनम् ॥७४॥

(सो०) शाब्दमागमप्रमाणं **शाश्वतवेदोत्थं** शाश्वतान्नित्याद्वेदाज्जातम्, आगमप्रमाणमित्यर्थः । शाश्वतत्वं च वेदानामपौरुषेयत्वादेव । उपमानमाह—

यत्प्रसिद्धार्थस्य प्रतीतपदार्थस्य **साधर्म्यात्** साम्याद**प्रसिद्धस्य** वस्तुनः **साधनं तदुपमानं** प्रमाणं **प्रकीर्तितं** कथितम् । यथा प्रसिद्धगोगवयस्वरूपो वनेचरोऽप्रसिद्धगवयस्वरूपं नागरिकं प्राह—'यथा गौस्तथा गवयः' इति । 'यथा भोः खुरककुदलाङ्गूलसास्नादिमन्तं पदार्थं गामिति जानासि, गवयोऽपि तथास्वरूपो ज्ञेय' इत्युपमानम् । अत्र सूत्रानुक्तावपि यत्तदावर्थसम्बन्धार्थमध्याहार्यौ ॥७४॥

(अव०) शब्दमागमप्रमाणं शाश्वताद्वेदाज्जातम्, वेदानां च शाश्वतत्वम्, अपौरुषेयत्वादेव । यत्प्रसिद्धार्थस्य प्रतीतपदार्थस्य साधर्म्यात् साम्यात् अप्रसिद्धस्य वस्तुनः साधनं तदुपमानं यथा प्रसिद्धगोगवयस्वरूपो वनेचरः अप्रसिद्धगवयस्वरूपं नागरकं प्राह यथा गौर्गवयस्तथा । अत्र सूत्रानुक्तावपि यत्तदावर्थसम्बन्धादध्याहार्यौ ॥७४॥

अर्थापत्तिमाह—

दृष्टार्थानुपपत्त्या तु कस्याप्यर्थस्य कल्पना ।
क्रियते यद्बलेनासावर्थापत्तिरुदाहृता ॥७५॥

(सो०) **असौ** पुन**रर्थापत्तिरुदाहृता** कथिता, अर्थापत्तिप्रमाणं प्रोक्तमित्यर्थः । **यद्बलेन कस्याप्यदृष्टस्यार्थस्य कल्पना क्रियते** सङ्घटना विधीयते, कया **दृष्टार्थानुपपत्त्या** दृष्टः परिचितः प्रत्यक्षलक्ष्यो योऽर्थो देवदत्ते पीनत्वादिः तस्यानुपपत्त्या अघटमानतया अन्यथानुपपत्त्या इत्यर्थः । यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, पीनत्वस्यान्यथानुपपत्त्या रात्राववश्यं भुङ्क्त इत्यत्र दृष्टं पीनत्वं विना भोजनं दुर्घटं, दिवा च न भुङ्क्ते, अतो रात्राववश्यमदृष्टं भोजनं ज्ञापयतीत्यर्थापत्तिः प्रमाणम् ॥७५॥

(अव०) यद्बलेन कस्याप्यदृष्टस्य कल्पना सङ्घटना विधीयते । दृष्टः परिचितः प्रत्यक्षलक्ष्योऽर्थः देवदत्ते पीनत्वादिः तस्यानुपपत्त्याघटमानतया अन्यथानुपपन्नेत्यर्थः, यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते रात्रावश्यं भुङ्क्त इत्यर्थापत्तिः प्रमाणम् ॥७५॥

अथाभावप्रमाणमाह—

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥७६॥

(**सो०**) **यत्र वस्तुरूपे**, अभावादौ पदार्थे **प्रमाणपञ्चकं** पूर्वोक्तं **न जायते, तत्राभावप्रमाणता** ज्ञेयेति सम्बन्धः । किमर्थम् ? इत्याह-**वस्तुसत्तावबोधार्थम्** । वस्तुनोऽभावरूपस्य मुण्डभूतलादेः सत्ता घटाद्यभावसद्भावः तस्यावबोधः प्रामाणिकपथावतारणं तदर्थं तद्धेतोरित्यर्थः । ननु कथमभावस्य प्रामाण्यम् । प्रत्यक्षं तावद्भूतलमेवेदं घटादि न भवतीत्यन्वयव्यतिरेकद्वारेण वस्तु परिच्छिन्दत् तदधिकं विषयमभावैकरूपं निराचष्ट इति किं विषयमाश्रित्याभावप्रामाण्यं स्यात् । मुण्डभूतले घटाभावमाश्रित्येति चेत्, मैवम्, घटाभावप्रतिबद्धभूतलग्रहणासिद्धेः । तदुक्तम्—

न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पद्यते मतिः ।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥

(श्लो० वा० अभावपरि० १८)

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥

(श्लो० वा० अभाव० २७) इति

नास्तिताज्ञानग्रहणावसरे प्रामाण्यमेवाभावस्य, केवलं भावांश इन्द्रियसन्निकर्षजत्वेन पञ्चप्रमाणगोचरसञ्चरिष्णुतामनुभवन्नाबालगोपालाङ्गनाप्रसिद्धं व्यवहारं प्रवर्तयति । अभावांशस्तु प्रमाणपञ्चकविषयबहिर्भूतत्वात् केवलभूतलग्रहणाद्युपयोगित्वादभावप्रमाणव्यपदेशमश्नुत इति सिद्धमभावस्यापि युक्तियुक्ततया प्रामाण्यमिति ॥७६॥

(**अव०**) यत्र वस्तुरूपेऽभावादौ पदार्थे पूर्वोक्तप्रमाणपञ्चकं न वर्तते तत्राभावप्रमाणता ज्ञेया । किमर्थम् ? वस्तुवसत्तावबोधार्थम्, वस्तुनोऽभावस्वरूपस्य मुण्डभूतलादेः सत्ता घटाद्यभावसद्भावः तस्यावबोधः प्रामाणिकपथावतरणं तदर्थं तद्धेतोः । ननु अभावस्य कथं प्रामाण्यम् ? प्रत्यक्षं तावद् भूतलमेवेदं घटादि न

भवतीति अन्वयद्वारेण वस्तुपरिच्छेदः, तदधिकमभावैकरूपं निराचष्टे । नैवं घटाभाव-प्रतिबद्ध-भूतलग्रहणासिद्धेः नास्तिताग्रहणावसरे प्रामाण्यमेव भावस्य मानसोत्पन्नम् ॥७६॥

उपसंहरन्नाह—

जैमिनीयमतस्यापि सङ्क्षेपोऽयं निवेदितः ।
एवमास्तिकवादानां कृतं सङ्क्षेपकीर्तनम् ॥७७॥

(**सो०**) **अपि**शब्दान्न केवलमपरदर्शनानां **जैमिनीयमतस्याप्ययं सङ्क्षेपो निवेदितः** कथितः । वक्तव्यस्य बाहुल्याट्टीकामात्रे सामस्त्य-कथनायोगात् सङ्क्षेप एव प्रोक्तोऽस्ति । अथ सूत्रकृत्सम्मतसङ्क्षेपमुक्त्वा निगमनमाह-**एव**मिति । एवमित्थम्, **आस्तिकवादिना**मिह परलोकगतिपुण्य-पापास्तिक्यवादिनां बौद्ध-नैयायिक-साङ्ख्य-जैन-वैशेषिक-जैमिनीयानां **सङ्क्षेपकीर्त्तनंकृतं**, सङ्क्षेपेण वक्तव्यमभिहितमित्यर्थः ॥७७॥

(**अव०**) उपसंहरन्नाह-अपिशब्दात् न केवलमपरदर्शनानां जैमिनीयमतस्यापि कथितः । वक्तव्यस्य बाहुल्याट्टीकामात्रे सामस्त्यकथनायोगात् । एवमास्तिकवादिनामिह परलोकगतिपुण्यपापास्तिक्यवादिनां बौद्ध-नैयायिक-साङ्ख्य-जैन-वैशेषिक-जैमिनीयानां सङ्क्षेपकीर्त्तनं कृतम् ॥७७॥

विशेषान्तरमाह—

नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह ।
न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः ॥७८॥

(**सो०**) **अन्ये** आचार्या **नैयायिकमताद्वैशेषिकैः सह भेदं न मन्यन्ते** दर्शनाधिष्ठात्रेकदैवतत्वात् पृथग्दर्शनं नाभ्युपगच्छन्ति **तेषां** मतापेक्षया **आस्तिक-वादिनः पञ्चैव** ॥७८॥

(**अव०**) विशेषान्तरमाह । अन्ये आचार्याः नैयायिकमताद् वैशेषिकैः सह भेदं न मन्यन्ते । दर्शनाधिष्ठात्रैकदैवतत्वात् पृथग्दर्शनं नाभ्युपगच्छन्ति तेषां मतापेक्षया

आस्तिकवादिनः पञ्चैव ॥७८॥

दर्शनानां षट् सङ्ख्या जगति प्रसिद्धा सा कथं फलवतीत्याह—

षष्ठदर्शनसङ्ख्या तु पूर्यते तन्मते किल ।
लोकायतमतक्षेपात्कथ्यते तेन तन्मतम् ॥७९॥

(सो०) ये नैयायिकवैशेषिकयोरेकरूपत्वेनाभेदं मन्यमाना दर्शनपञ्चकमेवाचक्षते, **तन्मते षष्ठदर्शनसङ्ख्या लोकायतमतक्षेपात्पूर्यते** । तुः पुनरर्थे, **किलेति** परमाप्ताम्नाये, **तेन** कारणेन **तन्मतं** चार्वाकमतं **कथ्यते** तत्स्वरूपमुच्यत इति ॥७९॥

(अव०) दर्शनानां षट्सङ्ख्या कथं फलवतीत्याह तन्मते नैयायिकवैशेषिकाभेदमन्यमानकाचार्यमते षट्दर्शनसङ्ख्या लोकायितमतक्षेपात् पूर्यते । तुः पुनरर्थे । किलेत्याम्नाये । तेन कारणेन तन्मतं चार्वाकमतं कथ्यते ॥७९॥

तदेवाह—

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति देवो न निर्वृत्तिः ।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः ॥८०॥

(सो०) लोकायता नास्तिका एवममुना प्रकारेण **वदन्ति** कथम् ? इत्याह-देवः—सर्वज्ञादि**र्नास्ति, निर्वृति**र्मोक्षो **नास्ति**, अन्यच्च **न विद्येते**, कौ ? **धर्माधर्मौ**, धर्मश्चाधर्मश्चेति द्वन्द्वः, पुण्यपापे सर्वथा न स्त इत्यर्थः । **पुण्यपापयो**र्धर्माधर्मयोः **फलं** स्वर्गनरकादिरूपं **नेति** नास्ति, तदपि पुण्यपापयोरभावे कौतस्त्यं तत्फलमित्यादि ॥८०॥

(अव०) लोकायिता नास्तिका एवममुना प्रकारेण वदन्ति-देवः सर्वज्ञादिः निर्वृतिर्मोक्षः, धर्मश्च अधर्मश्च द्वन्द्वः, पुण्यपापयोः फलं स्वर्गनरकादिकं च नास्ति, धर्माधर्माभावे कौतस्कुतं तत्फलम् ॥८०॥

तच्छास्त्रोक्तमेव सोल्लुण्ठं दर्शयन्नाह-

तथा च तन्मतम्—

एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे ! वृकपदं पश्य यद्वदन्ति बहुश्रुताः ॥८१॥

(सो०) तथा चेत्युपदर्शने । **तन्मतं** प्रस्तावान्नास्तिकमतम् । कथम् ? इत्याह-

अयं लोकः संसार **एतावानेव** एतावन्मात्र एव **यावान्** यावन्मात्रमिन्द्रियगोचरः । इन्द्रियं स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रभेदात् पञ्चविधं तस्य गोचरो विषयः । पञ्चेन्द्रियव्यक्तीकृतमेव वस्त्वस्ति नापरं किञ्चन । अत्र लोकग्रहणाल्लोकस्थपदार्थसार्थस्य सङ्ग्रहः । तथा परे पुण्यपापसाध्यं स्वर्गनरकाद्याहुः, तदप्रमाणं प्रत्यक्षाभावादेव । अप्रत्यक्षमप्यस्तीति चेच्छशशृङ्गवन्ध्यास्तनन्धयादीनामपि भावोऽस्तु । तथा हि—स्पर्शनेन्द्रियेण तावन्मृदुकठोरशीतोष्णस्निग्धरूक्षादिभावा उपलभ्यन्ते । रसनेन्द्रियेण तिक्त-कटु-कषायाम्ल-मधुरास्वाद-लेह्य-चूष्य-पेयादयो वेद्यन्ते । घ्राणेन्द्रियेण मृगमद-मलयज-घनसारागुरु-प्रभृति-सुरभि-वस्तु-परिमलोद्गारपरम्पराः परिचीयन्ते । चक्षुरिन्द्रियेण भू-भूधर-पुर-प्राकार-घट-पट-स्तम्भ-कुम्भाम्भोरुहादि-मनुष्य-पशु-श्वापदादि-स्थावर-जङ्गम-पदार्थ-सार्था अनुभूयन्ते । श्रोत्रेन्द्रियेण तु प्रथिष्ठ-गाथक-पथपथिक-प्रथ्यमान-तालमान-मूर्च्छनाप्रेङ्खोलनाखेलन्मधुरध्वनय आकर्ण्यन्ते । इति पञ्चप्रकारप्रत्यक्षदृष्टमेव वस्तुतत्त्वं प्रमाणपदवीमवगाहते । शेषप्रमाणानामनुभवाभावादेव निरस्तत्वाद् गगनकुसुमवत् । ये चास्पृष्टमनास्वादितमनाघ्रातमदृष्टमश्रुतमप्याद्रियमाणाः स्वर्गमोक्षादिसुखपिपासानुबन्धचेतोवृत्तयो दुश्चरतरतपश्चरणादिकष्टपिष्टिकया स्वजन्म क्षपयन्ति, तन्महासाहसं तेषामिति । किञ्चाप्रत्यक्षमप्यस्तिततयाभ्युपगम्यते चेज्जगदनपद्रुतमेव स्यात् । दरिद्रो हि स्वर्णराशिर्मेऽस्तीत्यनुध्याय हेलयैव दौःस्थ्यं दलयेत्, दासोऽपि स्वचेतसि स्वामितामवलम्ब्य स्वस्य किङ्करतां निराकुर्यादिति, न कोऽपि स्वानभिमतमालिन्यमश्नुवीत । एवं न कश्चित्सेव्यसेवकभावो दरिद्रिधनिभावो वा

स्यात् । तथा च जगद्व्यवस्थाविलोपप्रसङ्ग इति सुस्थितमिन्द्रियगोचर एव प्रमाणम् । ये चानुमानागमादिप्रामाण्यमनुमन्वानाः पुण्यपापव्यापारप्राप्यस्वर्ग-नरकादिसुखासुखं व्यवस्थापयन्तो वाचाटा न विरमन्ति, तान् प्रति दृष्टान्तमाह-**भद्रे वृकपदं पश्येति** । यथा हि कश्चित्पुरुषो वृकपददर्शनसमुद्भुतकुतूहलां दयितां मन्थरतर-प्रसृमर-समीरण-समीकृत-पांशु-प्रकरे स्वकराङ्गुलिन्यासेन, वृकपदा-कारतां विधाय प्राह—हे भद्रे ! वृकपदं पश्य । कोऽर्थः ? यथा तस्या अविदितपरमार्थाया मुग्धाया विदग्धो वल्लभो वृकचरणनिरीक्षणाग्रहं कराङ्गु-लिन्यासमात्रेण प्रलोभ्य पूरितवान्, एवममी अपि धर्मच्छद्मधूर्ताः परवञ्चनप्रवणा यत् किञ्चिदनुमानागमादिदार्ढ्यमादर्श्य व्यर्थं मुग्धजनान् स्वर्गादिप्राप्तिलभ्यभोगा-भोगप्रलोभनया भक्ष्याभक्ष्यगम्यागम्यहेयोपादेयादिसङ्कटे पातयन्ति, मुग्धधार्मिक-ध्यान्ध्यं चोत्पादयन्ति । एवमेवार्थं प्रमाणकोटिमधिरोपयन्तश्च **यद् बहुश्रुताः** परमार्थवेदिनो **वदन्ति**, वक्ष्यमाणपद्येनेत्यर्थः ॥८१॥

(अव०) तन्मते लोकायतमते अयं लोकः संसारः एतावन्मात्र एव यावन्मात्र इन्द्रियगोचरः । इन्द्रियं पञ्चविधम्, तस्य गोचरो विषयः, पञ्चेन्द्रियव्यक्तीकृतमेव वस्त्वस्ति नापरम् । लोकग्रहणात् लोकस्थपदार्थग्रहः । अपरे पुण्यपापसाध्यं स्वर्गनरकाद्याहुः, तदप्रमाणं प्रत्यक्षाभावादेव । अप्रत्यक्षमपि चेन्मतम्; तदा शशशृङ्गवन्ध्यास्तनन्धयादीनामपि भावोऽस्तु । दृष्टान्तमाह-यथा कश्चित्पुरुषो वृकपददर्शनकुतूहलां दयितां समीरणसमीकृतपांशुप्रकरे कराङ्गुल्या वृकपदाकारं विधाय मुग्धामवादीत्- भद्रे वृकपदं पश्य । तथा परवञ्चनप्रवणा मायाधार्मिका स्वर्गादिप्राप्तये तपश्चरणाद्युपदेशेन मुग्धजनं प्रतारयन्ति ॥८१॥

पिब खाद च जातशोभने ! यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
न हि भीरु ! गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥८२॥

(सो०) हे **जातशोभने** ! भावप्रधानत्वान्निर्देशानां, जातं शोभनत्वं वदननयनादित्वं यस्याः सेति तत्सम्बोधनम् । **पिब** पेयापेयव्यवस्थावैसंष्ठुल्येन मदिरादेः पानं कुरु न केवलं पिब, **खाद च** भक्ष्याभक्ष्यनिरपेक्षतया मांसादिकं भक्षय । यद्वा पिबेति अधरादिपानं कुरु, खादेति भोगानुपभुङ्क्ष्वेति काम्युपदेशः, स्वयौवनं सफलीकुर्वित्यर्थः । अथ सुलभमेव पुण्यानुभावाद्भवान्तरेऽपि

शोभनत्वमिति परोक्तमाशङ्क्याह-**यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते** । हे प्रधानाङ्गि ! यदतीतम् अतिक्रान्तं यौवनादि तत्ते तव भूयो न, किं तु जराजीर्णत्वमेव भविष्यतीत्यर्थः । जातशोभने ! वरगात्रीतिसम्बोधनयोः समानार्थयोरप्यादरानुरागाति-रेकान्न पौनरुक्त्यदोषः । यदुक्तम्—

अनुवादादरवीप्साभृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु ।
ईषत्सम्भ्रमविस्मयगणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् ॥

ननु स्वेच्छयाविच्छिन्ने खादने पाने दुस्तरा परलोके कष्टपरम्परा, सुलभं च सति सुकृतसञ्चये भवान्तरेऽपि यौवनादिकमिति पराशङ्कां दूषयन्नाह-**न हि भीरु ! गतं निवर्तते** । हे भीरु ! परोक्तमात्रेण नरकादिप्राप्यदुःखभयाकुले ! गतम्, इह भवातिक्रान्तं सुखं यौवनादि न निवर्तते परलोके नाढौकते परलोक-सुखाकाङ्क्षया तपश्चरणादिकष्टक्रियाभिरिहत्यसुखोपेक्षा व्यर्थेत्यर्थः । अथ जन्यजनकसम्बन्धसद्भावादमुना कायेन परलोकेऽपि सहेतुकं सुखदुःखादिकं वेदितव्यमवश्यमेवेति चेद्; आह-**समुदयमात्रमिदं कलेवरम्** । इदं कलेवरं शरीरं समुदयमात्रं समुदयो मेलः वक्ष्यमाणचतुर्भूतानां संयोगस्तन्मात्रं मात्रशब्दोऽवधारणे भूतचतुष्टयसम्बन्ध एव कायो न च पूर्वभवादिसम्बद्धशुभाशुभकर्मविपाकवेद्य-सुखदुःखादिसव्यपेक्ष इत्यर्थः । संयोगाश्च तरुशिखरावलीलीनशकुनिगणवत्, क्षणतो विनश्वरास्तस्मात् परलोकानपेक्षया यथेच्छं पिब खाद चेति वृत्तार्थः ॥८२॥

(अव०) परमार्थवेदिन इदं वाक्यम्-यदतीतं यौवनादि तन्न ते किन्तु जराजीर्णत्वादि भावि । हे भीरु ! गतम् इह भवातिक्रान्तं सुखयौवनादि परलोके न ढौकते भूतानां समुदयो मेलः तन्मात्रम्, कलेवरं भूतचतुष्टयाधिकस्याभावान्न च पूर्वभवादिसम्बन्धः शुभाशुभकर्मजन्यः ॥८२॥

चैतन्यमाह—

किञ्च पृथ्वी जलं तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम् ।
चैतन्यभूमिरेतेषां मानं त्वक्षजमेव हि ॥८३॥

(सो०) किञ्चेत्युपदर्शने, पृथ्वी भूमिः, **जलमापः, तेजो** वह्निः,

वायुः पवनः, इति **भूतचतुष्टयं तेषां** चार्वाकाणां **चैतन्यभूमिः**, चैतन्योत्पत्तिकारणं चत्वार्यपि भूतानि सम्भूय सपिण्डं चैतन्यं जनयन्तीत्यर्थः । **तुः** पुन**र्मानं** प्रमाणं हि निश्चितम् । **अक्षजमेव** प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यर्थः ॥८३॥

(अव०) पृथ्वी जलमिति । पृथ्वी भूमिः, जलमापः, तेजो वह्निः, वायुः पवनः, एतानि चत्वारि भूतानि एतेषामाधारोऽधिकरणभूमिः भूतानि सम्भूय एकं चैतन्यं जनयन्ति । एतन्मते प्रमाणम्, प्रत्यक्षमेव एकं प्रमाणं न पुनरनुमानादिकम् । हिशब्दोऽत्र विशेषार्थो वर्तते । विशेषः पुनश्चार्वाकैः लोकयात्रानिर्वाहणप्रवणं धूमाद्यनुमानमिष्यते । क्वचन, न पुनः स्वर्गादृष्टादिप्रसाधकमलौकिकमनुमानमिति । [चैतन्यमाह-पूर्वार्धं सुगमम् । एतेषां चार्वाकाणां चेतनोत्पत्तिकारणं भूतचतुष्टयम् । चत्वार्यपि सम्भूय चैतन्यमुत्पादयन्ति । तुः पुनः । मतिं प्रमाणम् अक्षमेव][1] ॥८३॥

ननु भूतचतुष्टयसंयोगजा देहचैतन्योत्पत्तिः कथं प्रतीयतामित्याशङ्क्याह-

पृथ्व्यादिभूतसंहत्यां तथा देहादिसम्भवः ।
मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वत्स्थितात्मता ॥८४॥

(सो०) पृथ्व्यादीनि पृथिव्यप्तेजोवायुरूपाणि यानि **भूतानि** तेषां **संहत्यां** मेले संयोगे सति, **तथे**त्युपदर्शने, **देहादिसम्भवः**, आदिशब्दादितरे भूभूधरादिपदार्था अपि भूतचतुष्टयसंयोगजा एव ज्ञेयाः । दृष्टान्तमाह-**यद्वद् येन** प्रकारेण **सुराङ्गेभ्यो** गुडधातक्यादिभ्यो मद्याङ्गेभ्यो **मदशक्ति**रुन्मादकत्वं भवति, तद्वत्तथा भूतचतुष्टयसम्बन्धात् शरीरे **आत्मता स्थिता** सचेतनत्वं जातमित्यर्थः ॥८४॥

(अव०) ननु भूतचतुष्टयसंयोगे कथं चैतन्योत्पत्तिरित्याह-पृथिव्यादिचतुर्भूतानां संहतौ मेले सति । तथेत्युपदर्शने । देहादिसम्भवः । आदिशब्दाद् भूधरादिपदार्था अपि । यथा येन प्रकारेण सुराङ्गेभ्यो गुडधातक्यादिभ्यो मदशक्तिः उन्मादकत्वं भवति तथा भूतचतुष्टयसम्बन्धाच्छरीरे आत्मनः स्थिता सचेतनता ॥८४॥

---

१. [ ] एतच्चिह्नान्तर्गतोः पाठोऽधिक आभाति ।

इति स्थिते यदुपदेशपूर्वकमुपसंहारमाह—

तस्माद् दृष्टपरित्यागाददृष्टे प्रवर्तनम् ।
लोकस्य तद्विमूढत्वं चार्वाकाः प्रतिपेदिरे ॥८५॥

(सो०) **तस्मादिति** पूर्वोक्तानुस्मारणे पूर्वं तस्मात्ततः कारणाद् **दृष्टपरित्यागाद्** दृष्टं पेयापेयखाद्याखाद्यगम्यागम्यानुरूपं प्रत्यक्षानुभाव्यं यत्सुखं तस्य परित्यागाददृष्टे तपश्चरणादिकष्टक्रियासाध्यपरलोकसुखादौ **प्रवर्तनं** प्रवृत्तिः । **चः** समुच्चये । यत्तदोर्नैयत्यात् पूर्वार्द्धेः यत्सम्बन्धो ज्ञेयः । **तल्लोकस्य विमूढत्व**मज्ञानत्वं **चार्वाकाः** लौकायतिकाः **प्रतिपेदिरे** प्रतिपन्नाः । मूढलोका हि विप्रतारकवचनोपन्यासत्रासितज्ञानाः सांसारिकं सुखं परित्यज्य व्यर्थं स्वर्गं मोक्षपिपासया तपोजपध्यानहोमादिभिरिहत्यं सुखं हस्तगतमुपेक्षन्त इति ॥८५॥

(अव०) तस्मादिति पूर्वोक्तानुस्मरणपूर्वकं दृष्टपरित्यागात् प्रत्यक्षसुखत्यागात् अदृष्टे तपश्चरणादिकष्टे प्रवृत्तिः । चः समुच्चये । तल्लोकस्य विमूढत्वं चार्वाकाः प्रतिपेदिरे प्रतिज्ञातवन्तः ॥८५॥

साध्यावृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने ।
निरर्था सा मता तेषां सा चाकाशात् परा न हि ॥८६॥

(सो०) **साध्यस्य** मनीषितस्य कस्यचिद्वस्तुन **आवृत्तिः** प्राप्तिः, कस्यचिद्वस्तुनोऽनभीष्टस्य **निवृत्तिरभावः, ताभ्यां जने** लोके **या प्रीतिर्जायते** उत्पाद्यते **सा तेषां** चार्वाकाणां **निरर्थिका** निरभिप्राया शून्या मताभीष्टा । परभवार्जितपुण्यपापसाध्यं सुखदुःखादिकं सर्वथा न विद्यत इत्यर्थः । **सा** च प्रीति**राकाशाद्** गगनात् **परा न हि** यथा आकाशं शून्यं तथैषापि प्रीतिरभावरूपैवेत्यर्थः ॥८६॥

(अव०) साध्यस्य मनीषितस्य कस्यचिद्वस्तुनो वृत्तिः प्राप्तिः अनभीष्टस्य निवृत्तिरभावः ताभ्यां जने या प्रीतिरुत्पद्यते सा तेषां चार्वाकाणां निरर्थका शून्या । पूर्वभवार्जितपुण्यपापाभावात् सा च प्रीतिराकाशरूपा शून्येत्यर्थः । धर्मस्य कामादन्यस्याभावात् ॥८६॥

उपसंहारमाह—

लोकायतमतेऽप्येवं सङ्क्षेपोऽयं निवेदितः ।
अभिधेयतात्पर्यार्थः पर्यालोच्यः सुबुद्धिभिः ॥८७॥

(सो०) एवममुना प्रकारेण **लोकायतमतेऽप्ययं सङ्क्षेपो निवेदितः । अपिः** समुच्चये । न केवलं परमते सङ्क्षेप उक्तो लोकायतमतेऽपि । अथ सर्वदर्शनसम्मतसङ्ग्रहे परस्परकल्पितानल्पविकल्पजल्परूपे निरूपिते किंकर्त्तव्यमूढानां प्राणिनां कर्त्तव्योपदेशमाह—**अभिधेयेति** । **सुबुद्धिभिः** पण्डितैर**भिधेयतात्पर्यार्थः पर्यालोच्यः** । अभिधेयं कथनीयं मुक्त्यङ्गतया प्रतिपाद्यं यद्दर्शनस्वरूपं तस्य तात्पर्यार्थः सारार्थो विचारणीयः । सुबुद्धिभिरिति शुद्धा पक्षपातरहिता बुद्धिर्येषामिति, न तु कदाग्रहग्रहिलैः । यदुक्तम्—

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥ इति

दर्शनानां पर्यन्तैकसारूप्येऽपि पृथक् पृथगुपदेष्टव्याद्विमतिसम्भवे विमूढस्य प्राणिनः सर्वस्य पृथक्त्यो दुर्लभं स्वर्गापवर्गसाधकत्वम् । अतो विमर्शनीयस्तात्त्विकोऽर्थः यथा च विचारितं चिरन्तनैः ।

श्रोतव्यः सौगतो धर्मः कर्त्तव्यः पुनरार्हतः ।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः ॥

इत्यादि विमृश्य श्रेयस्करं रहस्यमभ्युपगन्तव्यं कुशलमतिभिरिति पर्यन्तश्लोकार्थः । तत्समाप्तौ समाप्ता चेयं षड्दर्शनसमुच्चयसूत्रटीका ।

श्रीरुद्रपल्लीयगणे गणेशः, श्रीचन्द्रसूरिर्गुणराशिरासीत् ।
तद्बन्धुरिन्दुप्रभकीर्त्तिभूरि-र्जीयाच्चिरं श्रीविमलेन्द्रसूरिः ॥

नन्दन्तु श्रीगुरवः, श्रीगुणशेखरमुनीश्वरास्तदनु ।
श्रीसङ्घतिलकसूरि-स्तत्पट्टे जयतु चिरमधुना ॥

तत्पदपयोजभृङ्गो, विद्यातिलको मुनिर्निजस्मृतये ।
षड्दर्शनीयसूत्रे, चक्रे विवृतिं समासेन ॥

तदनुचितमौच्यत्यत्र, प्रमादतो मन्दमतिविमर्शाच्च ।
हृदयं विधाय मधुरं, तत् सुजनाः शोधयन्तु मयि ॥

वैक्रमेऽब्दे युग्म[२]नन्द[९]-विश्व[३]देव[१]प्रमाणिते ।
आदित्यवर्द्धनपुरे, शास्त्रमेतत् समर्थितम् ॥

खेलतो मूलराजहंसौ यावद्विश्वसरस्तटे ।
तावद्बुधैर्वाच्यमानं पुस्तकं नन्दतादिति ॥

सप्ताशीतिः श्लोकसूत्रं टीकामानं विनिश्चितम् ।
सहस्रमेकं द्विशती द्वापञ्चाशदनुष्टुभाम् ॥८७॥

इति श्रीहरिभद्रसूरिकृतषड्दर्शनसमुच्चये
विद्यातिलकापरनामश्रीसोमतिलकसूरि लघुवृत्तिः समाप्ता ॥

(अव०) एवं लौकायितमतसङ्क्षेपः कथितः । एवं षड्दर्शनविकल्पे सति अभिधेयतात्पर्यार्थः मुक्त्यङ्गतत्त्वसारार्थः चिन्तनीयः बुद्धिमद्भिः ॥८७॥

इति षड्दर्शनसमुच्चयावचूर्णिः समाप्ता ॥

मलधारिश्रीराजशेखरसूरिविरचितः

षड्दर्शनसमुच्चयः

नत्वा निजगुरून् भक्त्या स्मृत्वा वाङ्मयदेवताम् ।
सर्वदर्शनवक्तव्यं वक्ति श्रीराजशेखरः ॥१॥

धर्मः प्रियः सर्वलोके तं ब्रूयुर्दर्शनानि षट् ।
तेषां लिङ्गे च वेषे च आचारे दैवते गुरौ ॥२॥

प्रमाणतत्त्वयोर्मुक्तौ तर्के भेदो निरीक्ष्यते ।
मुक्तिरष्टाङ्गयोगेनेत्येतत् साधारणं वचः ॥३॥

जैनं साङ्ख्यं जैमिनीयं यौगं वैशेषिकं तथा ।
सौगतं दर्शनान्येवं नास्तिकं तु न दर्शनम् ॥४॥

तत्र जैनमते लिङ्गं रजोहरणमादिमम् ।
मुखवस्त्रं च वेषश्च चोलपट्टादिकः स्मृतः ॥५॥

विस्तरस्त्वोघनिर्युक्तेर्ज्ञेयो वेषादिगोचरः ।
आचारः पञ्चसमितिगुप्तित्रितयलक्षणः ॥६॥

ईर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपोत्सर्गसञ्ज्ञकाः ।
पञ्चाहुः समितीस्तिस्रो गुप्तिस्त्रियोगनिग्रहात् ॥७॥

तीर्थङ्कराश्चतुर्युक्ता विंशतिर्वृषभादयः ।
क्लिष्टाष्टकर्मनिर्मुक्ताः केवलज्ञानभास्कराः ॥८॥

महाव्रतधरो धीरः सर्वागमरहस्यवित् ।
क्रोधमानादिविजयी निर्ग्रन्थो गुरुरुच्यते ॥९॥

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वे प्रमाणे इह स्मृते ।
तत्र प्रमेयं स्याद्वादाधिष्ठितं द्रव्यषण्मयम् ॥१०॥

धर्माधर्मौ नभः कालः पुद्गलश्चेतनस्तथा ।
द्रव्यषट्कमिदं ख्यातं तद्भेदास्त्वागमे स्मृताः ॥११॥

जीवाजीवौ तथा पुण्यं पापमाश्रवसंवरौ ।
बन्धो विनिर्जरामोक्षौ नवतत्त्वी मताऽर्हताम् ॥१२॥

चैतन्यलक्षणो जीवः स्यादजीवस्ततोऽन्यथा ।
सत्कर्मपुद्गलाः पुण्यं पापं दुष्कर्मपुद्गलाः ॥१३॥

कषाया विषया योगा इत्याद्या आश्रवा मताः ।
आश्रवाद्विरमणं यत् तत् संवर इति स्मृतः ॥१४॥

शुभाशुभानां ग्रहणं कर्मणां बन्ध इष्यते ।
पूर्वोपार्जितकर्मौघजरणं निर्जरा स्मृता ॥१५॥

कर्मक्षयेण जीवस्य स्वस्वरूपस्थितिः शिवम् ।
एषां नवानां श्रद्धाने चारित्रात् तत्तु लभ्यते ॥१६॥

श्वेताम्बरा वन्द्यमाना धर्मलाभं प्रचक्षते ।
शुद्धां माधुकरीं वृत्तिं सेवन्ते भोजनादिषु ॥१७॥

ख्याताः प्रमाणमीमांसा प्रमाणोक्तिसमुच्चयः ।
नयचक्रवालतर्कः स्याद्वादकलिका तथा ॥१८॥

प्रमेयपद्ममार्तण्डस्तत्त्वार्थः सर्वसाधनः ।
धर्मसङ्ग्रहणीत्यादितर्कौघा जिनशासने ॥१९॥

जैने मत उभौ पक्षौ श्वेताम्बरदिगम्बरौ ।
श्वेताम्बरः पुरा प्रोक्तः कथ्यतेऽथ दिगम्बरः ॥२०॥

दिगम्बराणां चत्वारो भेदा नाग्न्यव्रतस्पृशः ।
काष्ठसङ्घो मूलसङ्घः सङ्घौ माथुरगोप्यकौ ॥२१॥

पिच्छिका चमरीवालैः काष्ठासङ्घे प्रतिष्ठिता ।
मूलसङ्घे मयूराणां पिच्छैर्भवति पिच्छिका ॥२२॥

पिच्छिका माथुरे सङ्घे मूलादपि हि नादृता ।
मयूरपिच्छिका गोप्या धर्मलाभं भणन्ति ते ॥२३॥

धर्मवृद्धिगिरः शेषाः, गोप्याः स्त्रीमुक्तिभाषिणः ।
गोप्यादन्ये त्रयः सङ्घाः प्राहुर्नो निर्वृतिं स्त्रियाः ॥२४॥

शेषास्त्रयश्च गोप्याश्च केवलिभुक्तिं न मन्वते ।
नास्ति चीवरयुक्तस्य निर्वाणं सद्व्रतेऽपि हि ॥२५॥

द्वात्रिंशदन्तराया: स्युर्मलाश्चैव चतुर्दश ।
भिक्षाऽटने भवन्त्येषां वर्जनीयास्तदागमे ॥२६॥

शेषं श्वेताम्बरैस्तुल्यं आचारे दैवते गुरौ ।
श्वेताम्बरप्रणीतानि तर्कशास्त्राणि मन्वते ॥२७॥

स्याद्वादविद्याविद्योतात्प्रायः साधर्मिका अमी ।
परमष्टसहस्त्री या न्यायकैरवचन्द्रमाः ॥२८॥

सिद्धान्तसार इत्याद्यास्तर्काः परमकर्कशाः ।
तेषां जयश्रीदानाय प्रगल्भन्ते पदे पदे ॥२९॥

जिनकल्पादयो भेदा व्युच्छिन्नाः साम्प्रतं कलौ ।
वर्त्तमानं ततः प्रोक्तं सर्वं ज्ञेयं जिनागमात् ॥३०॥

सम्यग् जैनं मतं ज्ञात्वा योगेऽष्टाङ्गे रमेत यः ।
स कर्मलाघवं कृत्वा लब्धा सौख्यपरम्पराम् ॥३१॥

॥ इति जैनमतम् ॥

अथ साङ्ख्यमतं ब्रूमस्ते त्रिदण्डैकदण्डकाः ।
कौपीनं वसनं तेषां धातुरक्ताम्बराश्च ते ॥३२॥

क्षुरमुण्डा एणचर्मासना द्विजगृहाशनाः ।
पञ्चग्रासपराश्चैव द्वादशाक्षरजापिनः ॥३३॥

ॐनमो नारायणाय तद्भक्ताः प्रवदन्त्यदः ।
प्रणामकाले तेऽप्याहुः पदं तत्तु नमोऽन्तकम् ॥३४॥

बीटेति भारते ख्याता दारवी मुखवस्त्रिका ।
दयानिमित्तं भूतानां मुखनिःश्वासरोधिका ॥३५॥

यदाहुस्ते-

घ्राणादनुप्रयातेन श्वासेनैकेन जन्तवः ।
हन्यन्ते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्राक्षरवादिना ॥३६॥

दयार्थं जलजीवानां गलनं धारयन्ति ते ।
शास्त्रेषूपदिशन्त्येवं भक्तानां पुरतः सदा ॥३७॥

षट्त्रिंशदङ्गुलायामं विंशत्यङ्गुलविस्तृतम् ।
दृढं गलनकं कुर्याद्भूयो जीवान् विशोधयेत् ॥३८॥

म्रियन्ते मिष्टतोयेन पूतराः क्षारसम्भवाः ।
क्षारतोयेन तु परे न कुर्यात् सङ्करं ततः ॥३९॥

लूताऽऽस्यतन्तुगलितैकबिन्दौ सन्ति जन्तवः ।
सूक्ष्मा भ्रमरमानास्ते नैव मान्ति त्रिविष्टपे ॥४०॥

कुसुम्भकुङ्कुमाम्भोवन्निचितं सूक्ष्मजन्तुभिः ।
न दृढेनापि वस्त्रेण शक्यं शोधयितुं जलम् ॥४१॥

(उत्तरमीमांसायां गलनकविचारोऽयम्)

साङ्ख्या निरीश्वराः केचित् केचिदीश्वरदेवताः ।
ये ते निरीश्वरास्तेऽमी नारायणपरायणाः ॥४२॥

विष्णोः प्रतिष्ठां कुर्वन्ति साङ्ख्यशासनसूरयः ।
चैतन्यप्रमुखैः शब्दैस्तेषामाचार्य उच्यते ॥४३॥

प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चेति प्रमात्रयम् ।
अन्तर्भावोऽत्र शेषाणां प्रमाणानां सयुक्तिकः ॥४४॥

अमीषां साङ्ख्यसूरीणां तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति ज्ञेयं तावद् गुणत्रयम् ॥४५॥

• एतेषां या समाऽवस्था सा प्रकृतिः किलोच्यते ।
प्रधानाव्यक्तशब्दाभ्यां वाच्या नित्यस्वरूपिका ॥४६॥

• ततः सञ्जायते बुद्धिर्महानिति यकोच्यते ।
अहङ्कारस्ततोऽपि स्यात् ततः षोडशको गणः ॥४७॥

• स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्याहुस्तथा कर्मेन्द्रियाणि च ॥४८॥

• पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानि मनस्तथा ।
अन्यानि पञ्चरूपाणि तन्मात्राणीति षोडश ॥४९॥

• रूपात्तेजो रसादापो गन्धाद्भूमिः स्वरान्नभः ।
स्पर्शाद्वायुस्तथा चैवं पञ्चभ्यः पञ्चभूतकम् ॥५०॥

• एवम् चतुर्विंशतितत्त्वरूपं निवेदितं साङ्ख्यमते प्रधानम् ।
अन्यश्च कर्त्ता विगुणश्च भोक्ता तत्त्वं पुमान् नित्यचिदभ्युपेतः ॥५१॥

अमूर्त्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥५२॥

प्रकृतेर्विरहो मोक्षस्तन्नाशे स स्वरूपगः ।
बध्यते मुच्यते चैव प्रकृतिः पुरुषो न तु ॥५३॥

साङ्ख्यानां मतवक्तारः कपिलासुरिभार्गवाः ।
उलूकः पञ्चशिखश्चेश्वरकृष्णस्तु शास्त्रकृत् ॥५४॥

तर्कग्रन्था एतदीया माठरस्तत्त्वकौमुदी ।
गौडपादाऽऽत्रेयतन्त्रे साङ्ख्यसप्ततिसूत्रयुक् ॥५५॥

काश्यां प्राचुर्यमेतेषां बहवो मासोपवासिकाः ।
धूम्रमार्गानुगा विप्रा अर्चिर्मार्गानुगास्त्वमी ॥५६॥

वेदप्रियास्ततो विप्रा यज्ञमार्गानुगामिनः ।
हिंसादिवेदविरताः साङ्ख्या अध्यात्मवादिनः ॥५७॥

स्वकीयस्य मतस्यैते महिमानं प्रचक्षते ।
यदि साङ्ख्यमते भक्तिस्तदा मुक्तिर्विना क्रियाम् ॥५८॥

उक्तञ्च माठरप्रान्ते-

हस पिब लल खाद मोद नित्यं भुङ्क्ष्व च भोगान् यथाऽभिलाषम् ।
यदि विदितं ते कपिलमतं तत् प्राप्स्यसि मोक्षसौख्यमचिरेण ॥५९॥

॥ इति साङ्ख्यमतम् ॥

अथ मीमांसकं ब्रूमो जैमिनीयापराभिधम् ।
जैमिनीया एकदण्डास्त्रिदण्डा अपि साङ्ख्यवत् ॥६०॥

मीमांसको द्विधा कर्मब्रह्ममीमांसकस्तथा ।
वेदान्ती मन्यते ब्रह्म कर्म भट्टप्रभाकरौ ॥६१॥

ते धातुरक्तवसना मृगचर्मोपवेशिकाः ।
कमण्डलुधरा मुण्डा भट्टाः प्राभाकराश्च ते ॥६२॥

वेदान्तध्यानमेवैकमाचारस्तैरुरीकृतः ।
तेषां मते नास्ति देवः सर्वज्ञादिविशेषणः ॥६३॥

तस्मादतीन्द्रियार्थानां साक्षाद् द्रष्टुरभावतः ।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो यथार्थत्वविनिर्णयः ॥६४॥

अत एव पुरा कार्यो वेदपाठः प्रयत्नतः ।
ततो धर्मस्य जिज्ञासा कर्त्तव्या धर्मसाधनी ॥६५॥

नोदनालक्षणो धर्मो नोदना तु क्रियां प्रति ।
प्रवर्त्तकं वचः प्राहुः स्वःकामोऽग्निं यथा यजेत् ॥६६॥

वेद एव गुरुस्तेषां वक्ता कश्चित्परो न हि ।
ततः स्वयं ते संन्यस्तं संन्यस्तमिति भाषिणः ॥६७॥

यज्ञोपवीतं प्रक्षाल्य पिबन्ति तज्जलं शुचि ।
एते साङ्ख्यानुगा वेषात् तत्त्वेऽतिमहती भिदा ॥६८॥

षट्प्रमाणस्पृशो भाट्टास्तन्नामानि प्रचक्ष्महे ।
प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चोपमया सह ॥६९॥

अर्थापत्तिरभावश्च भाट्टानां षट् प्रमाः स्मृताः ।
प्रभाकरमते पञ्च ते ह्यभावं न मन्वते ॥७०॥

एकमेवाद्वितीयं स्यात् ब्रह्म तत्त्वं महाफलम् ।
प्रपञ्चः स्तम्भकुम्भादिस्तेषां शास्त्रे निरर्थकः ॥७१॥

मीमांसको द्विजन्मेवेत्यतः शूद्रान्नवर्जकः ।
न पौरुषकृता वेदाः पारम्पर्येण तद्ग्रहात् ॥७२॥

मीमांसकानां चत्वारो भेदास्तेषु कुटीचरः ।
बहूदकश्च हंसश्च तथा परमहंसकः ॥७३॥

कुटीचरो मठावासी यजमानपरिग्रही ।
बहूदको नदीतीरे स्नातो नैरस्यभैक्ष्यभुक् ॥७४॥

हंसो भ्रमति देशेषु तपःशोषितविग्रहः ।
यः स्यात्परमहंसस्तु तस्याचारं वदाम्यहम् ॥७५॥

स ईशानीं दिशं गच्छन् यत्र निष्ठितशक्तिकः ।
तत्रानशनमादत्ते वेदान्तध्यानतत्परः ॥७६॥

परः पर इहोत्कृष्टे याज्यास्तेषां तु वाडवाः ।
साङ्ख्यवत्प्रकृतेर्भेदात् मोक्षो जीवस्य तन्मते ॥७७॥

(गार्गीयस्मृतिमध्यगाः श्लोकाः)

त्रिदण्डी सशिखो यस्तु ब्रह्मसूत्री गृहच्युतः ।
सकृत् पुत्रगृहेऽश्नाति यो याति स कुटीचरः ॥७८॥

कुटीचरस्य रूपेण ब्रह्मभिक्षो जिताशनः ।
बहूदकः स विज्ञेयो विष्णुजापपरायणः ॥७९॥

ब्रह्मसूत्रशिखाहीनः कषायाम्बरदण्डभृत् ।
एकरात्रिं वसेद् ग्रामे नगरे च त्रिरात्रिकम् ॥८०॥

विप्राणामावसथेषु विधूमेषु गताग्निषु ।
ब्रह्मभिक्षां चरेद्धंसः कुटिकावासमाचरेत् ॥८१॥

हंसस्य जायते ज्ञानं तदा स्यात्परमो हि सः ।
चातुर्वर्ण्यप्रभोक्ता च स्वेच्छया दण्डभृत्तदा ॥८२॥

प्रपञ्चमिथ्या कठवल्लिका च ख्यातं जने भागवतं पुराणम् ।
इत्यादिशास्त्राणि बहूनि तेषां तत्सम्प्रदायस्तु कृशोऽत्र लोके ॥८३॥

॥ इति जैमिनीयमतम् ॥

अथ योगमतं ब्रूमः शैवमित्यपराभिधम् ।
ते दण्डधारिणः प्रौढकौपीनपरिधायिनः ॥८४॥

कम्बलिकाप्रावरणा जटापटलशालिनः ।
भस्मोद्धूलनकर्त्तारो नीरसाहारसेविनः ॥८५॥

दोर्मूले तुम्बकभृतः प्रायेण वनवासिनः ।
आतिथ्यकर्मनिरताः कन्दमूलफलाशनाः ॥८६॥

सस्त्रीका अथ निःस्त्रीका निःस्त्रीकास्तेषु चोत्तमाः ।
पञ्चाग्निसाधनपराः प्राणलिङ्गधराः करे ॥८७॥

विधाय दन्तपवनं प्रक्षाल्यांह्रिकराननम् ।
स्पृशन्ति भस्मनाऽङ्गं त्रिस्त्रिः शिवध्यानतत्पराः ॥८८॥

यजमानो वन्दमानो वक्ति तेषां कृताञ्जलिः ।
ॐ नमः शिवायेत्येवं शिवाय नम इत्यसौ ॥८९॥

तेषां च शङ्करो देवः सृष्टिसंहारकारकः ।
तस्यावताराः सारा ये तेऽष्टादश तदर्चिताः ॥९०॥

तेषां नामान्यथ ब्रूमो नकुलीशोऽथ कौशिकः ।
गार्ग्यो मैत्र्यः कौरुषश्च ईशानः षष्ठ उच्यते ॥९१॥

सप्तमः पारगार्ग्यस्तु कपिलाण्डमनुष्यकौ ।
अपरकुशिकोऽत्रिश्च पिङ्गलाक्षोऽथ पुष्पकः ॥९२॥

बृहदाचार्योऽगस्तिश्च सन्तानः षोडशः स्मृतः ।
राशीकरः सप्तदशो विद्यागुरुरथापरः ॥९३॥

एतेऽष्टादश तीर्थेशास्तैः सेव्यन्ते पदे पदे ।
पूजनं प्रणिधानं च तेषां ज्ञेयं तदागमात् ॥९४॥

अक्षपादो गुरुस्तेषां तेन ते ह्याक्षपादकाः ।
उत्तमां संयमावस्थां प्राप्ता नग्ना भ्रमन्ति ते ॥९५॥

प्रमाणानि च चत्वारि प्रत्यक्षं लैङ्गिकं तथा ।
उपमानं च शाब्दं च तत्फलानि पृथक् पृथक् ॥९६॥

तत्त्वानि षोडशामुत्र प्रमाणादीनि तद्यथा ।
प्रमाणं च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनम् ॥९७॥

दृष्टान्तोऽप्यथ सिद्धान्तोऽवयवस्तर्कनिर्णयौ ।
वादो जल्पो वितण्डा च हेत्वाभासाश्छलानि च ॥९८॥

जातयो निग्रहस्थानान्येषां व्ययस्तु दुस्तरः ।
आत्यन्तिकस्तु दुःखानां वियोगो मोक्ष उच्यते ॥९९॥

जयन्ताचार्यरचितो न्यायतर्कोऽतिदुस्तरः ।
अन्यस्तूदयनाचार्यो ग्रन्थप्रासादसूत्रभृत् ॥१००॥

भासर्वज्ञो न्यायसारतर्कसूत्रविधायकः ।
न्यायसाराभिधे तर्के टीका अष्टादश स्फुटाः ॥१०१॥

न्यायभूषणनाम्नी तु टीका तासु प्रसिद्धिभाक् ।
अयमेषां विशेषस्तु यत्प्रजल्पन्ति पर्षदि ॥१०२॥

शैवीं दीक्षां द्वादशाब्दीं सेवित्वा योऽपि मुञ्चति ।
दासीदासोऽपि भवति सोऽपि निर्वाणमृच्छति ॥१०३॥

एतेषु निर्विकारा ये मीमांसां दर्शयन्ति ते ।
तत्र पद्यमिदं चास्ति मोक्षमार्गप्ररूपकम् ॥१०४॥

न स्वर्धुनी न फणिनो न कपालदाम
नेन्दोः कला न गिरिजा न जटा न भस्म ।
यत्रास्ति नान्यदपि किञ्चिदुपास्महे तद्
रूपं पुराणमुनिशीलितमीश्वरस्य ॥१०५॥

स एव योगिनां सेव्यो योऽर्वाचीनस्तु योगभाक् ।
स ध्यायमानो राज्यादिसुखलुब्धैर्निषेव्यते ॥१०६॥

उक्तश्च तैः स्वयोगशास्त्रे-

वीतरागं स्मरन् योगी वीतरागत्वमश्नुते ।
सरागं ध्यायतः पुंसः सरागत्वं तु निश्चितम् ॥१०७॥

येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥१०८॥

श्रुतानुसारतः प्रोक्तं नैयायिकमतं मया ।
एतेषामेव शास्त्रेभ्यस्तांस्तान् भावान् विदुर्बुधाः ॥१०९॥

एतेषां यजमानस्तु सुताराहृदयेश्वरः ।
सत्यवादी हरिश्चन्द्रो रामलक्ष्मणपूर्वजः ॥११०॥

भरटानां व्रतादाने वर्णव्यक्तिर्न काचन ।
यस्य पुनः शिवे भक्तिर्व्रती स भरटो भवेत् ॥१११॥

अमीषां सर्वतीर्थेषु भरटा एव पूजकाः ।
शेषा नमस्कारकराः सोऽपि कार्यो न सन्मुखः ॥११२॥

॥ इति शैवमतम् ॥

अथ वैशेषिकं ब्रूमः पाशुपतान्यनामकम् ।
लिङ्गादि यौगवत्तेषां ते ते तीर्थकरा अपि ॥११३॥

वैशेषिकाणां योगेभ्यो मानतत्त्वगता भिदा ।
प्रत्यक्षमनुमानं च मते तेषां प्रमाद्वयम् ॥११४॥

अवशेषप्रमाणानामन्तर्भावोऽत्र तैर्मतः ।
तत्त्वानि तु षडेवात्र द्रव्यप्रभृतिकान्यहो ! ॥११५॥

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं च चतुर्थकम् ।
विशेषसमवायौ च तत्त्वषट्कं हि तन्मते ॥११६॥

तत्र द्रव्यं नवधा भूजलतेजोऽनिलान्तरिक्षाणि ।
कालदिगात्ममनांसि च गुणाः पुनः पञ्चविंशतिधा ॥११७॥

स्पर्शरसरूपगन्धाः शब्दः सङ्ख्या विभागसंयोगौ ।
परिमाणं च पृथक्त्वं तथा परत्वापरत्वे च ॥११८॥

बुद्धिः सुखदुःखेच्छा धर्माधर्मप्रयत्नसंस्काराः ।
द्वेषः स्नेहगुरुत्वे द्रवत्ववेगौ गुणा एते ॥११९॥

उत्क्षेपावक्षेपावाकुञ्चनकं प्रसारणं गमनम् ।
पञ्चविधं कर्मैतत् परापरे द्वे तु सामान्ये ॥१२०॥

तत्र परं सत्ताख्यं द्रव्यत्वाद्यपरमथ विशेषस्तु ।
निश्चयतो नित्यद्रव्यवृत्तिरन्त्यो विनिर्दिष्टः ॥१२१॥

य इहायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतभावानाम् ।
सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स च भवति समवायः ॥१२२॥

यौगे वैशेषिके तन्त्रे प्रायः साधारणी क्रिया ।
आचार्यः शङ्कर इति नाम प्रागभिधापरम् ॥१२३॥

अमीषां तर्कशास्त्राणि षट्सहस्राणि कन्दली ।
श्रीधराचार्यरचिता प्रशस्तकरभाष्यकम् ॥१२४॥

तत्र सप्तशती मानं सूत्रं तु त्रिशतीमितम् ।
व्योमशिवाचार्यकृता टीका व्योममतिर्मता ॥१२५॥

सा स्यान्नव सहस्राणि परा तु किरणावली ।
सा तूदयनसंदृब्धा उद्देशात् षट्सहस्रिका ॥१२६॥

श्रीवत्साचार्यरचिता टीका लीलावती मता ।
साऽपि स्यात् षट्सहस्राणि एकं त्वात्रेयतन्त्रकम् ॥१२७॥

तत्तु सम्प्रति व्युच्छिन्नं शिष्या मन्दोद्यमा यतः ।
आचारव्यवहारौ च प्रायश्चित्तं च ते विदुः ॥१२८॥

जीवस्यात्यन्तिको दुःखवियोगो मोक्ष इष्यते ।
यौगानां च तथैवोक्तः प्रायः साधर्मिका यतः ॥१२९॥

शिवेनोलूकरूपेण कणादस्य मुनेः पुरः ।
मतमेतत् प्रकथितं तत औलूक्यमुच्यते ॥१३०॥

अक्षपादेन ऋषिणा रचितत्वात्तु यौगिकम् ।
आक्षपादमिति ख्यातं प्रायस्तुल्यं मतद्वयम् ॥१३१॥

॥ इति वैशेषिकमतम् ॥

अथ बौद्धमतं वक्ष्ये मौण्ड्यं कृत्तिः कमण्डलुः ।
लिङ्गं तेषां रक्तवस्त्रं वेषः शौचक्रिया बहुः ॥१३२॥

धर्मबुद्धसङ्घरूपं तेषां रत्नत्रयं मतम् ।
तारा देवी पुनस्तेषां सर्वविघ्नोपघातिनी ॥१३३॥

सप्त तीर्थङ्करास्तेषां कण्ठे रेखात्रयाङ्किताः ।
विपश्यी शिखी विश्वभूः ककुच्छन्दश्च काञ्चनः ॥१३४॥

काश्यपश्च सप्तमस्तु शाक्यसिंहोऽर्कबान्धवः ।
तथा राहुलसूः सर्वार्थसिद्धो गौतमान्वयः ॥१३५॥

मायाशुद्धोदनसुतो देवदत्ताप्रजश्च सः ।
शौद्धोदनिधर्मकीर्तिप्रमुखा गुरवो मताः ॥१३६॥

प्रत्यक्षमनुमानं च द्वे प्रमाणे तु तन्मते ।
चतुर्णामार्यसत्यानां दुःखादीनां प्ररूपकः ॥१३७॥

सर्वज्ञस्तन्मते बुद्धः स प्रमेयचतुष्कवाक् ।
दुःखं समुदयो मार्गो निरोधश्चेति तात्त्विकम् ॥१३८॥

दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्त्तिताः ।
विज्ञानं वेदना सञ्ज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥१३९॥

समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः ।
आत्माऽऽत्मीयस्वभावाख्यः समुदयः स उदाहृतः ॥१४०॥

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना तु या ।
स मार्ग इह विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते ॥१४१॥

सुगताचारलग्नस्य ज्ञाननिर्मलता हि या ।
सा मुक्तिर्मन्यते बौद्धैः कैश्चित् कैश्चिच्चितेः क्षयः ॥१४२॥

आत्मानं मन्वते नैते ज्ञानमेव तु मन्वते ।
भवान्तरे सहचरं सन्तानस्थं क्षणक्षयि ॥१४३॥

चत्वारो बौद्धभेदाः स्युर्भक्तिस्तेषां पृथक् पृथक् ।
काव्यादमुष्याद् ज्ञातव्यास्तन्मतप्रतिपादितात् ॥१४४॥

अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणेष्यते,
प्रत्यक्षेण हि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराहृतः ।
योगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा,
मन्यन्ते बत मध्यमाः कृतधियः स्वच्छां परां संविदम् ॥१४५॥

तर्कभाषा हेतुबिन्दुर्न्यायबिन्दुस्तथाऽर्चटः ।
तर्कः कमलशैलश्च तथा न्यायप्रवेशकः ॥१४६॥

ज्ञानपारमिताद्यास्तु ग्रन्थाः स्युर्दश तन्मते ।
प्रासादा वर्तुलास्तेषां बुद्धाण्डक इति स्मृताः ॥१४७॥

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया मध्ये भक्तं पानकं चापराह्णे ।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे मोक्षश्चान्ते शाक्यसिंहेन दृष्टः ॥१४८॥

॥ इति बौद्धमतम् ॥

उक्ता लिङ्गादयो भेदा दर्शनानां शिवैषिणाम् ।
तद्विस्तरस्तु न प्रोक्तो यथाज्ञानमुदीरितः ॥१४९॥

अष्टाङ्गयोगसिद्ध्यर्थं दध्युर्लिङ्गानि लिङ्गिनः ।
सर्वे प्राहुस्तमष्टाङ्गं तत्स्वरूपं वदाम्यथ ॥१५०॥

अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्माकिञ्चनता यमाः ।
नियमाः शौचसन्तोषौ स्वाध्यायतपसी अपि ॥१५१॥

देवताप्रणिधानं च करणं पुनरासनम् ।
प्राणायामः प्राणयमः श्वासप्रश्वासरोधनम् ॥१५२॥

प्रत्याहारस्त्विन्द्रियाणां विषयेभ्यः समाहृतिः ।
धारणा तु क्वचिद् ध्येये चित्तस्य स्थिरबन्धनम् ॥१५३॥

ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसन्ततिः ।
समाधिस्तु तदेवार्थमात्राभासनरूपकम् ॥१५४॥

एवं योगो यमाद्यङ्गैरष्टभिः सम्मतोऽष्टधा ।
मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धानचरणात्मकः ॥१५५॥

निवर्त्तको भवेद् धर्मो दर्शनानां शिवैषिणाम् ।
राज्यादिभोगामिच्छूनां गृहिणां तु प्रवर्तकः ॥१५६॥

सर्वसावद्यविरतिर्धर्मः सिद्ध्यै निवर्त्तकः ।
इष्टापूर्त्तादिको धर्मो भवेद् भूत्यै प्रवर्तकः ॥१५७॥

धर्माधर्मविधातारं जीवं दर्शनिनो विदुः ।
नास्तिकास्तं न मन्यन्ते पुण्यापुण्यबहिर्मुखाः ॥१५८॥

तेऽधिपर्षद् वदन्त्येवं नास्ति जीवो न कर्म च ।
धर्माधर्मौ न विद्येते ततः किं नु तयोः फलम् ? ॥१५९॥

- एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे ! वृकपदं पश्य यद् वदन्त्यबहुश्रुताः ॥१६०॥

- पिब खाद च चारुलोचने ! यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
न हि भीरु ! गतं निवर्त्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥१६१॥

- पृथ्वी जलं तथा तेजो वायुर्भूतचतुष्टयम् ।
प्रमाणभूमिरेतेषां मानं त्वक्षजमेव हि ॥१६२॥

- पृथ्व्यादिभूतसंहत्या यथा देहादिसङ्गतिः ।
मदशक्तिः सुराऽङ्गेभ्यो यद्वत् तद्वच्चिदात्मता ॥१६३॥

- तस्माद् दृष्टपरित्यागाद् यददृष्टे प्रवर्त्तनम् ।
तद्धि लोकस्य मूढत्वं चार्वाकाः प्रतिपेदिरे ॥१६४॥

क्रमेण खण्डनं तेषां जीवस्तावत्प्रपद्यताम् ।
अहं दुःखी सुखी चाहमिति प्रत्यययोगतः ॥१६५॥

घटं वेद्म्यहमित्यत्र त्रितयं प्रतिभासते ।
कर्म क्रिया च कर्त्ता च तत्कर्त्ता किं निषिध्यते ? ॥१६६॥

शरीरमेव चेत्कर्तृ, न कर्तृ, तदचेतनम् ।
भूतचैतन्ययोगाच्च चेतनं, तदसङ्गतम् ॥१६७॥

मया दृष्टं श्रुतं स्पृष्टं घ्रातमास्वादितं स्मृतम् ।
इत्येककर्तृका भावा भूतचिद्वादिनः कथम् ? ॥१६८॥

स्वसंवेदनतः सिद्धे स्वदेहे चेतनात्मनि ।
परदेहेऽपि तत्सिद्धिरनुमानेन साध्यते ॥१६९॥

बुद्धिपूर्वा क्रिया दृष्टा स्वदेहेऽन्यत्र तद्गतिः ।
प्रमाणबलतः सिद्धा चेतना नातिवार्यते ॥१७०॥

तत्परलोकिनः सिद्धौ कर्मबन्धो न दुर्घटः ।
विचित्राध्यवसायस्थः स हि बध्नात्यनादितः ॥१७१॥

पुण्यपापमयं कर्म चीयते वाऽपचीयते ।
तद्वशात् सुखदुःखानि न तु यादृच्छिकान्यहो ! ॥७२॥

नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्वसम्भवः ॥१७३॥

स्तन्यपानाभिलाषो यत् प्रथमं बालके भवेत् ।
पूर्वजन्माभ्यासतोऽसौ तस्मिन् जन्मन्यशिक्षणात् ॥१७४॥

तस्मान्नास्तिकवाक्येषु रतिः कर्तुं न युज्यते ।
आत्मा ज्ञानी कर्ममुक्तः परलोकी च बुध्यताम् ॥१७५॥

स चाष्टाङ्गेन योगेन कर्मोन्मूल्य समन्ततः ।
आप्नोति मुक्तिं तत्रोच्चैरानन्दं स्वादयत्यहो ! ॥१७६॥

सादिकमनन्तमनुपममव्याबाधं स्वभावजं सौख्यम् ।
प्राप्तः स केवलज्ञानदर्शनो मोदते मुक्तः ॥१७७॥

सर्वथाऽप्यजिघांसूनां गुरुदेवहितैषिणाम् ।
अदीर्घमत्सराणां च मुक्तिरासन्नवर्त्तिनी ॥१७८॥

कालस्वभावनियतिचेतनेतरकर्मणाम् ।
भवितव्यतया पाके मुक्तिर्भवति नान्यथा ॥१७९॥

बालावबोधनकृते मलधारिसूरिः श्रीराजशेखर इति प्रथमानबुद्धिः ।
सम्यग्गुरोरधिगतोत्तमतर्कशास्त्रः षड्दर्शनीमिति मनाक् कथमयाम्बभूव ॥१८०॥

इति श्रीराजशेखरसूरिकृतः षड्दर्शनसमुच्चयः ।

टी. ● एतच्चिह्नयुताः श्लोकाः श्रीहरिभद्रसूरिकृत-षड्दर्शनसमुच्चये दृश्यन्ते ।

परिशिष्ट

परिशिष्ट-१

वेदान्त-दर्शनम्

लोकायत मतेऽप्येवं सङ्क्षेपोऽयं निवेदितः ।
वेदान्तिनां मतस्यासौ कथ्यमानो निशम्यताम् ॥१॥

वेदान्तिनः पुनः प्राहुरद्वैतमतवादिनः ।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥२॥

अनिर्वाच्या हि मायात्र या विवर्तविधायिनी ।
विक्षेपावारशक्तिभ्यां सहिताध्यासकारणम् ॥३॥

आवारशक्तिर्मायायाः प्रोक्ता कर्तृत्वकारणम् ।
शक्तिर्विक्षेपरूपा च प्रपञ्चजननी मता ॥४॥

सर्वसत्त्वानुस्यूतं च ब्रह्मैवैकं च निर्गुणम् ।
सदाशुद्धं स्वतः सिद्धं तद्भिन्नं विद्यते न सत् ॥५॥

श्रवणान्मननाच्चैव निदिध्यासान्निरंतरम् ।
समाधेरप्यनुष्ठानात् प्राप्यते ब्रह्म निश्चयम् ॥६॥

प्रमाणादिव्यवस्था च मीमांसासंमता मता ।
अभिधेयार्थतात्पर्यं पर्यालोच्यं सुबुद्धिभिः ॥७॥

वैराग्यरतिनाङ्गेन वेदान्तमतप्रक्रिया ।
सङ्क्षिप्ता पूरिताह्यत्र बोधाय स्वाल्पमेधसाम् ॥८॥

परिशिष्ट-२

अकारादिक्रमः

अत एव पुरा ७०
अपरोक्षतया ५६
आक्षपादमते १३
आचार्यशिष्य २९
उत्क्षेपावक्षेप ६४
एतानि नव ५३
एतावानेव ८१
एतेषां या ३६
एवं चतुर्विंशति ४१
एवं सांख्यमत ४४
कार्यात् कारणा २१
किमेतदिति २५
क्षणिकाः सर्व ७
चैतन्य लक्षणो ४९
जातयो निग्रह १६
जिनेन्द्रो देवता ४५
जीवाजीवौ ४७
जैनदर्शन ५८
जैमिनीयमत ७७
जैमिनीयाः ६८
ततः संजायते ३७
तत्त्वानि षोडशा १४
तथाभव्यत्व ५४
तत्र ज्ञानादि ४८
तत्र द्रव्यं ६१
तत्र परं ६५
तत्र प्रत्यक्ष ७३
तत्र बौद्धमते ४
तस्मादती ६९
तस्माद्दृष्ट ८५
दर्शनानि षडेवा २
दुःखं संसारिणः ५
दृष्टांतस्तु २६
दृष्टान्तोऽप्य १५
दृष्टार्थानुप ७५
देवताविषयो ५९
द्रव्यं गुण ६०
निग्रहस्थान ३२

नैयायिक मतस्यै	३३	य इह्ययुत	६६
नैयायिकमताद	७८	यच्च सामान्य	२२
नोदनालक्षणो	७१	यथा काकादि	२८
पापं तद्विपरीतं	५०	येनोत्पाद	५७
पायूपस्थ	३९	रुपाणि पक्ष	११
पिब खाद च	८२	रुपात्तेजो	४०
पृथ्वी जल	८३	रोलंबगवल	२०
पृथ्व्यादि	८४	लोकायतमते	८७
पूर्ववच्छेष	१९	लोकायता	८०
पंचविंशति	४२	विजिगुषु	३०
पंचेन्द्रियाणि	८	व्यवसायात्मकं	१८
प्रकृतिवियोगो	४३	शाब्दमाप्तो	२४
प्रतिज्ञाहेतु	२७	शाब्दं शाश्वत	७४
प्रत्यक्षमनुमानं	७२	षड्दर्शन	७९
प्रत्यक्षमनुमानं	१७	सत्त्वं रज	३५
प्रत्यक्षं कल्पना	१०	सद् दर्शनं	१
प्रत्यक्षं च	५५	समुदेति	६
प्रमाणं च	६७	संवरस्तन्निरोध	५१
प्रमाणपंचकं	७६	साध्यवृत्ति	८६
प्रमाणे द्वे च	९	सांख्या निरी	३४
प्रसिद्धवस्तु	२३	सुरासुरेंद्र	४६
बद्धस्य कर्मणो	५२	स्पर्शनं रसनं	३८
बुद्धिः सुख	६३	स्पर्शरस	६२
बौद्धं नैयायिकं	३	हेत्वाभासा	३१
बौद्धराद्धांत	१२		

प्रवचन प्रकाशन

साहित्य-सूची

१) आजनो नियम (पांचवी आवृत्ति)
२) स्तुति सरिता (चौथी आवृत्ति)
३) मरणं मंगलं मम (दुसरी आवृत्ति)
४) फूलमां फोर्या राम (दुसरी आवृत्ति)
५) आचारोपदेश (हिन्दी अनुवाद)
६) पूनाथी कराड सुधीनां प्रवचनो
७) रत्नाकरावतारिका (संस्कृत)
८) नरनारायणानन्दमहाकाव्यम् (संस्कृत)
९) झाकळना सूरज
१०) श्रावकधर्मविधिप्रकरणम् (संस्कृत)
११) षड्दर्शन समुच्चय (संस्कृत - अनुवाद)
१२) जागो रे, मावाप (हिन्दी)
१३) पातंजलयोग दर्शनम् - सटीकम् (संस्कृत)
१४) स्याद्वादमञ्जरी (संस्कृत)
१५) कारिकावली (संस्कृत)
१६) रामचंद्रं नमामि
१७) गुणानुवाद प्रवचन
१८) नयामृतम् (संस्कृत)
१९) काव्यानुशासनम् - सटीकम् (संस्कृत)
२०) समरादित्यसंक्षेपः (संस्कृत)
२१) षड्दर्शन समुच्चय - सटिकम् (संस्कृत)
२२) साधु तो चलता भला

आगामी साहित्य

२१) योगद्रष्टि समुच्चय (संस्कृत)
२२) बंधशतक - वृत्ति (संस्कृत)
२३) सुरसुंदरीचरियं (संस्कृत)
२३) प्रभु ! क्यारे कृपा करशो
२४) मोतीअे बांधी पाळ
२५) पर्व प्रवचन (दुसरी आवृत्ति)

प्रवचन प्रकाशन

आज्ञाधर्मथी अनुबद्ध अने शब्दश्रीथी समृद्ध साहित्यनुं प्रकाशन करवानो
मुद्रालेख धरावतां प्रवचन प्रकाशनने समुदार सहयोग आपनारा

प्रवचन स्तंभ

श्री हेमतलाल छगनलाल महेता परिवार - कलकत्ता
श्रीमती प्रभाबेन नंदलाल शेठ - मुंबई
युवा संस्कार ग्रूप - नागपुर

प्रवचन प्रेमी

श्री सुधीरभाई के. भणशाळी - कलकत्ता
श्री कुमारपाळ दिनेशकुमार समदडिया - मंचर
श्री प्रकाश बाबुलाल, देवेन्द्र, पराग, प्रितम शाह - मंचर

प्रवचन भक्त

श्री चंदुलाल नेमचंद महेता - कलकत्ता
श्री छोटालाल देवचंद महेता - कलकत्ता
श्री खुशालचंद वनेचंद शाह - कलकत्ता
श्री रसीकलाल वाडीलाल शाह - कलकत्ता
श्री कस्तूरचंद नानचंद शाह - कलकत्ता
श्री मंछालाल शामजी जोगाणी - कलकत्ता
श्री गुलाबचंद ताराचंदजी कोचर - नागपुर
श्री नटवरलाल पोपटलाल महेता - नागपुर
श्रीमती समजुबेन मणीलाल दोशी परिवार - नागपुर
श्री प्रवीणचंद्र वालचंदजी शेठ (डीसावाला) - नासिक
श्री चंद्रशेखर नरेंद्रकुमार चोपडा - वरोरा
श्री सुभाषकुमार वाडीलाल शाह - कराड
श्रीमती हसमुखबेन जयंतीलाल शाह (पृथ्वी) - वापी

आ धर्मानुरागी महानुभावोनी अमे हार्दिक अनुमोदना करीओ छीओ.

श्री विजयमहोदयसूरि ग्रंथमाला

(८)

प्रवचन प्रकाशन